मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 118 ● वर्ष 13, अंक 2 ● अप्रैल 2023 ● दस रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

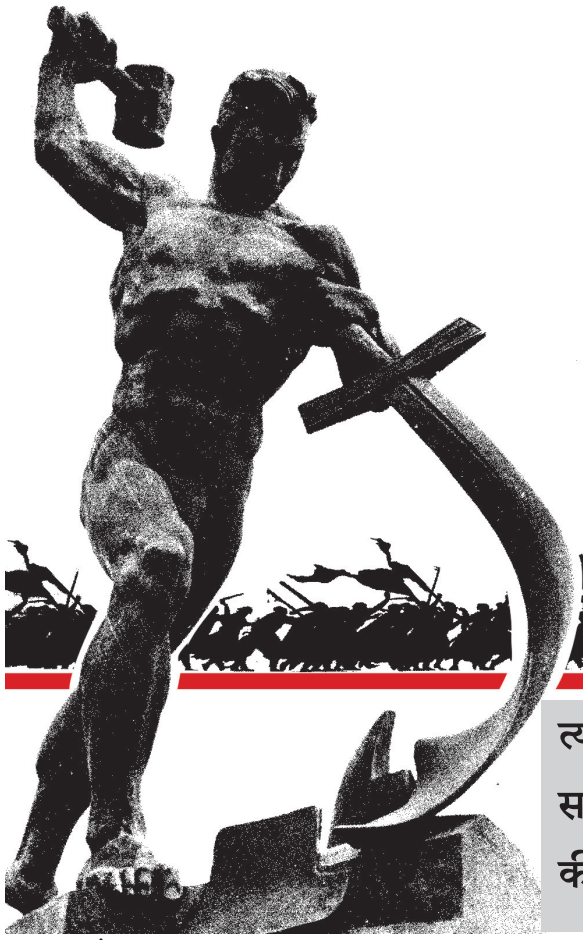

त्योहारों के ज़रिए साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की साज़िश 5

भाजपा व संघ का गाय-प्रेम और गोरक्षा : सोचने के लिए कुछ सवाल 7

मज़दूर वर्ग की पार्टी कैसी हो 12

पूँजीवादी संसदीय विपक्ष समेत हर प्रकार के राजनीतिक विरोध को ख़ामोश करने की मोदी-शाह सत्ता की कोशिशें फ़ासीवादियों की बढ़ते डर और बौख़लाहट का प्रतीक है

जनवादी अधिकारों पर होने वाले हर हमले का पुरज़ोर विरोध क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग का कर्तव्य है

एक व्यापक फ़ासीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी जनान्दोलन खड़ा करना आज का सबसे अहम कार्यभार है

सम्पादकीय अग्रलेख

इतिहास हमें सिखाता है कि मज़दूर वर्ग का सबसे ख़तरनाक दुश्मन फ़ासीवाद है। फ़ासीवाद आर्थिक मन्दी के दौर में पैदा होने वाली पूँजीपति वर्ग की प्रतिक्रिया का एक स्वरूप होता है। मन्दी के दौर में मुनाफ़े की गिरती औसत दर से निपटने के लिए पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग की औसत मज़दूरी को घटाने, श्रम सघनता को बढ़ाने व कार्यदिवस की लम्बाई को बढ़ाने आदि जैसे प्रयास करता है। ज़ाहिर है, मज़दूर वर्ग द्वारा संगठित या स्वत:स्फूर्त रूप में इसके विरोध किये जाने की सम्भावना होती है, जो पूँजीपति वर्ग को परेशान करती है। इसी प्रकार, मन्दी के दौर में वेतनभोगी निम्न व मध्यम मध्यवर्ग को मिलने वाली तमाम सहूलियतों को भी सरकार एक-एक करके ख़त्म करती है, ताकि पूँजीपतियों को टैक्स से छूट, क़र्ज़ा माफ़ी आदि के रूप में तमाम राहतें दी जा सकें और इसकी वजह से पैदा होने वाले सरकारी घाटे को कम किया जा सके। शिक्षा, चिकित्सा से लेकर आवास व सामाजिक सुरक्षा से सरकार अपना पल्ला झाड़ती है और इन क्षेत्रों को भी धन्नासेठों की लूट के लिए खोलने का काम विशेष तौर पर आर्थिक मन्दी के दौर में करती है।

ऐसे में, व्यापक आम जनता में भी असन्तोष बढ़ता है और जनता के असन्तोष से शोषक-शासक वर्ग की सरकारें व राज्यसत्ताएँ हमेशा ही घबराती हैं। लिहाज़ा, पूँजीपति वर्ग को एक दमनकारी और तानाशाहाना सत्ता की ज़रूरत महसूस होती है। अलग-अलग देशों की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार पूँजीपति वर्ग कहीं सैन्य तख़्तापलट करवाता है, किसी वैयक्तिक तानाशाह की सत्ता को स्थापित करवाता है, या फिर फ़ासीवादी तानाशाही को सत्ता में पहुँचाता है। इसी को हुक्मरान "मज़बूत नेता", "मज़बूत नेतृत्व" आदि का नाम देते हैं और समूची जनता को अपने टुकड़ों पर पलने वाले मीडिया के ज़रिये यह यक़ीन दिलाने की कोशिश करते हैं कि यह "मज़बूती" जनता के लिए भी काम आने वाली है! जनता को बाद में समझ में आता है कि इस "मज़बूती" का इस्तेमाल उसके ख़िलाफ़ और उसे दबाने के लिए होने वाला है।

बहरहाल, इन सारी धुर जनविरोधी सत्ताओं में से फ़ासीवादी तानाशाही पूँजीपति वर्ग के लिए सबसे उपयुक्त होती है। क्यों? क्योंकि यह टुटपुँजिया वर्गों में, विशेष तौर पर निम्न मध्यवर्ग और मध्यम मध्यवर्ग में उसकी सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा व अनिश्चितता का लाभ उठाकर एक झूठा डर पैदा करता है (मसलन, 'मुसलमान अपनी आबादी बढ़ाकर अपना शासन क़ायम कर लेंगे', आदि जैसी बेहूदा बकवास)। फ़ासीवादी शक्तियाँ उनके सामने एक नक़ली दुश्मन (जैसे यहूदी, मुसलमान, प्रवासी, इत्यादि) को खड़ा करके, उनकी अन्धी प्रतिक्रिया को एक ठोस रूप देती हैं और इस प्रकार उनका एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन खड़ा करती हैं। आज आपको बजरंग दल, विहिप, इत्यादि संघ परिवार की गुण्डा-वाहिनियों में जो पीले चेहरे वाले युवा दिखायी पड़ते हैं वे आम तौर पर इसी टुटपुँजिया वर्ग से आते हैं या फिर लम्पट सर्वहारा वर्ग से आते हैं, जो सामाजिक तौर पर मज़दूर वर्ग से आता है लेकिन राजनीतिक तौर पर सर्वहारा वर्ग चेतना से रिक्त होता है।

(पेज 8 पर जारी)

सेना में जवानों की बढ़ती आत्महत्याओं का कारण क्या है?

भारत

सुबह-सुबह पार्क में दौड़ते हुए आपने उन नौजवानों को ज़रूर देखा होगा जो सेना में भर्ती होने के लिए पूरी मेहनत करते हैं। लाखों-लाख बेरोज़गार नौजवान सेना व पुलिस में आम सिपाही की नौकरियों के लिए तैयारी करते रहते हैं, तो उनके लिए सेना व पुलिस में भर्ती सर्वप्रथम रोज़गार का एक अवसर है। बेरोज़गारी की मार झेलने वाले नौजवान परिवार के पालन-पोषण के लिए और सेवानिवृत्ति के बाद मिलने वाली सहूलियतों के कारण सेना में भर्ती होने की जद्दोजहद में लगे रहते हैं। दूसरी तरफ सेना का नाम आते ही आमतौर सबकी "देशभक्ति" जग जाती है। इस देशभक्ति को आधार बनाकर ही भाजपा 2019 का चुनाव जीती थी। भाजपा की इस फ़र्ज़ी देशभक्ति पर आगे चर्चा करेंगे। नौजवानों की बड़ी आबादी जो सेना में भर्ती होने के लिए तैयारी करती है, सेना में शामिल ही नहीं हो पाती और अन्त में छोटा-मोटा काम करके अपनी आजीविका चलाती है। पर जिनकी भर्ती हो जाती है, उनके क्या हालात हैं इस लेख में हम इसी पर बात करेंगे।

बीते दिनों केन्द्रीय गृह राज्य मन्त्री नित्यानन्द राय ने राज्य सभा में बताया कि बीते तीन वर्षों में सेना में 436 सैनिकों ने आत्महत्या की। इसमें 154 सी.आर.पी.एफ के सैनिक शामिल हैं, जो कि सबसे अधिक है और वहीं 111 बी.एस.एफ के सैनिकों ने भी आत्महत्या की। 63 सीआईएसएफ में, वहीं आई.टी.बी.पी (इंडियन तिब्बत बॉर्डर पुलिस) में 32 सैनिकों ने और ए.आर (असम राइफल्स) में 30 सैनिकों ने आत्महत्या की।

सैनिक क्यों आत्महत्या कर रहे हैं? सैनिक जिन परिस्थितियों में काम करते हैं, वहाँ के हालात उनके आत्महत्या का कारण बनते हैं। सेना के भीतर आम सिपाहियों के साथ सेना के अधिकारियों द्वारा जो बर्ताव किया जाता है, उन्हें बैरकों में जिन हालात में रखा जाता है, उन्हें जो वेतन दिया जाता है, और जिस तरीक़े से उन्हें उनके बुनियादी जनवादी अधिकारों से वंचित रखा जाता है, वह अपने आप में "देशभक्ति" के सारे दावों की पोल खोल देता है। उन्हें हर प्रकार की राजनीतिक गतिविधि और राजनीतिक चेतना से दूर रखने का प्रयास किया जाता है। उनमें सोचने-विचारने की शक्ति को कुचल डालने का हर प्रयास किया जाता है और उन्हें बस आदेश पर अमल करने का आदी बनाया जाता है, यह प्रश्न उठाये बिना कि आदेश क्या है, किसके द्वारा दिया जा रहा है और किसकी सेवा के वास्ते दिया जा रहा है। उन्हें यूनियन या संगठन बनाने की कोई आज़ादी नहीं होती। दूसरे शब्दों में, उन्हें राजनीतिक चेतना विकसित करने से रोकने का हर-सम्भव इन्तज़ाम सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में किया जाता है। सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों के भीतर अवसाद और आत्महत्याओं के बढ़ते मामलों का कारण दरअसल इनके भीतर मौजूद

(पेज 5 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से एक अपील

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से हमारी अपील है कि अगर आप इस अख़बार को ज़रूरी समझते हैं और जनता का अपना मीडिया खड़ा करने के जारी प्रयासों की इसे एक ज़रूरी कड़ी मानते हैं, तो इसे जारी रखने में हमारा सहयोग करें।

1. 'मज़दूर बिगुल' की वार्षिक, पंचवर्षीय या आजीवन सदस्यता ख़ुद लें और अपने साथियों को दिलवायें।

2. अगर आपकी सदस्यता का समय बीत रहा है या बीत चुका है, तो उसका नवीनीकरण करायें।

3. अख़बार के वितरक बनें, इसे ज़्यादा से ज़्यादा मेहनतकश पाठकों तक पहुँचाने में हमारे साथ जुड़ें। (प्रिण्ट ऑर्डर बढ़ने से लागत भी कुछ कम होती है।)

4. अख़बार के लिए नियमित आर्थिक सहयोग भेजें।

हमें जनता की ताक़त पर भरोसा है और हमारे अनुभव ने यह सिद्ध किया है कि बिना कोई समझौता किये, एक विचार के ज़रिए जुड़े लोगों की साझा मेहनत और सहयोग के दम पर बड़े काम किये जा सकते हैं। इसी ताक़त के सहारे 'बिगुल' 1996 से लगातार निकल रहा है और यह यात्रा आगे भी जारी रहेगी। हमें विश्वास है कि इस यात्रा में आप हमारे हमसफ़र बने रहेंगे।

अपने कारख़ाने, वर्कशॉप, दफ़्तर या बस्ती की समस्याओं के बारे में, अपने काम के हालात और जीवन की स्थितयों के बारे में हमें लिखकर भेजें। आप व्हॉट्सएप पर बोलकर भी हमें अपना मैसेज भेज सकते हैं। नम्बर है : 8853476339

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

प्रिय पाठको,

अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया इसकी सदस्यता लें और अपने दोस्तों को भी दिलवाएँ। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं। या फिर QR कोड स्कैन करके मोबाइल से भुगतान कर सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :

मज़दूर बिगुल,
द्वारा जनचेतना,
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787,
IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

QR कोड व UPI

UPI: bigulakhbar@okicici

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 8853476339 (व्हॉट्सऐप)
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं।
मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।
आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

घोषणापत्र का प्रपत्र : प्रपत्र 4
(नियम 8 के अन्तर्गत)

समाचार पत्र का नाम	मज़दूर बिगुल
पत्र की भाषा	हिन्दी
आवर्तिता	मासिक
पत्र का खुदरा बिक्री मूल्य	दस रुपये
प्रकाशक का नाम	कात्यायनी सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ-226016
प्रकाशन का स्थान	तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ
मुद्रक का नाम	कात्यायनी सिन्हा
पता	263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ-226016
मुद्रणालय का नाम	मल्टीमीडियम, 310, संजयगांधी पुरम, . फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ-226016
सम्पादक का नाम	अभिनव सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ-226016
स्वामी का नाम	कात्यायनी सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय

मैं कात्यायनी सिन्हा, यह घोषणा करती हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर
(कात्यायनी सिन्हा)
प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853476339
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 9289498250
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 10/- रुपये वार्षिक – 125/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये

मारुति के मज़दूरों के बहादुराना और कुर्बानी भरे संघर्ष को क्रान्तिकारी सलाम!

मज़दूरों के ख़िलाफ़ झूठे केसों को वापस लेने और बर्ख़ास्त मज़दूरों की बहाली के लिए संघर्ष को कैसे आगे बढ़ायें?

शाम मूर्ति

बीते 15 फ़रवरी 2023 को गुड़गाँव (हरियाणा) के लघु सचिवालय पर मारुति से निकाले गये मज़दूर साथियों ने प्रदर्शन किया और डीसी को ज्ञापन सौंपा गया। इसमें बिगुल मज़दूर दस्ता और ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री काण्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन के सदस्य भी शामिल हुए। बर्ख़ास्तगी के एक दशक से अधिक समय बीतने के बाद भी यहाँ के मज़दूर मारूति प्रबन्धन द्वारा उनपर डाले गये झूठे केसों को वापस लेने और बर्ख़ास्त मज़दूरों की बहाली के आन्दोलन को जारी रखने की कोशिश कर रहे हैं। इन संघर्षरत साथियों का हौसला यह दिखाता है कि वे तमाम दमन के बावजूद आज तक हक़ और इन्साफ़ के लिए डटे हुए हैं। 12 जुलाई 2012 को मज़दूर आन्दोलन पर हुए बर्बर दमन के बाद, कम्पनी प्रबन्धन की शह पर बाउंसरों द्वारा व पुलिसिया दमन की कार्रवाई के दौरान बर्बर लाठीचार्ज किया गया। जुझारू व अगुआ मज़दूरों को गिरफ़्तार कर लिया गया, बिना सबूतों के महज़ शक के आधार पर झूठे केस डाले गये और उम्रक़ैद की सज़ा के फ़रमान सुनाये गये। इसके अलावा ज़िन्दगी की तंगी-बदहाली झेलने के बावजूद वे प्रबन्धन व सरकार के आगे नहीं झुके। दो साथियों की कुर्बानियों को कभी भुलाया नहीं जा सकता है। बाक़ी के साथी आज भी डटे रहने का संकल्प लिये अन्य मज़दूरों की उम्मीद को ज़िन्दा रखने की पूरी कोशिश में लगे हैं। साथियों के इस जज़्बे को क्रान्तिकारी अभिवादन!

साथियो! परन्तु मौजूदा आन्दोलन की आज जो स्थिति है उसपर हमें एक बार खुले दिल से और विवेकपूर्ण व गम्भीरतापूर्ण रूप में दोबारा पीछे मुड़कर देखने की ज़रूरत है। महज़ भावनाओं, सदिच्छाओं व सरोकारों से ही हक़ और इन्साफ़ के संघर्ष को न तो बढ़ाया जा सकता है और न ही जीत के मुक़ाम तक पहुँचाया जा सकता है। अभी तक किये गये संघर्ष के सकारात्मक व नकारात्मक की आलोचनात्मक विवेचना तथा इससे ठोस सबक निकाले बग़ैर संघर्ष को दोबारा से खड़ा करना कत्तई सम्भव नहीं है। अब आन्दोलन की स्थिति पहले जैसी नहीं है, बल्कि पहले से कहीं कमज़ोर हो चुकी है जिसे बेशक़ दोबारा मज़बूत करने की अन्त तक कोशिश होनी ही चाहिए। लेकिन अगर सही तरीके से प्रयास नहीं किये गये तो यह पलटकर पहले की तरह निराशा को ही गहरा बनायेंगे।

आज यह बात तो साफ़ हो चुकी है कि एक तरफ़ कम्पनी प्रबन्धन-श्रम विभाग, सरकार से लेकर शासन-प्रशासन, पुलिस व बाउन्सरों जैसी ताक़तें हैं जो पूँजीपतियों के मुनाफ़े को सुनिश्चित करने में दिन-रात एक कर देती हैं, वहीं दूसरी तरफ श्रम की ताक़तें हैं। यह आज की कड़वी सच्चाई है कि फ़िलहाल श्रम की ताक़तें पूँजी की ताक़तों की तुलना में बहुत कमज़ोर हैं, लेकिन यह भी सच है कि इसे सदा के लिए दबाया नहीं जा सकता है और इसे हमेशा के लिए पीछे धकेला नहीं जा सकता है। लेकिन इस परिस्थिति को सही वैचारिक व ऐतिहासिक समझ के बिना पलटा भी जा नहीं जा सकता। हमारा संघर्ष सीधा पूँजीपतियों व उसकी प्रबन्धन का काम करने वाली तमाम सरकारों व राज्यसत्ता से है। मज़दूरों का संख्याबल ज़्यादा है, परन्तु इसके बावजूद पूँजी की ताक़तों के पीछे पूँजीवादी राजसत्ता की संगठित और हथियारबन्द ताक़तें खड़ी हैं। उसकी तुलना में फ़िलहाल श्रम की ताक़तें वैचारिक तौर पर कमज़ोर और सांगठनिक धरातल पर बिख़री हुई हैं।

मारुति के आन्दोलन को आगे बढ़ाने का यक्ष प्रश्न, चुनौतियाँ व कार्यभार!

मारूति के मज़दूरों के संघर्ष के साथ हुई शुरुआत के लिए सही रणनीति और रणकौशल को विकसित करने का सवाल पहले भी हमारे द्वारा बार-बार उठाया उठाया जाता रहा है। उसके बारे में कुछ चर्चा आवश्यक है।

पहली बात यह है कि मारुति के मज़दूरों का संघर्ष महज़ मारुति के कार प्लाण्ट का था ही नहीं और न ही उसके महज़ चारों प्लाण्टों का। इस संघर्ष के दौरान जो माँगें उठायी गयी थी वे पूरे ऑटो सेक्टर के मज़दूरों की थीं। अस्थायी मज़दूरों और स्थायी मज़दूरों का साझा दुश्मन पूँजीपति वर्ग है। ऐसे में साझे दुश्मन के ख़िलाफ़ बिखरी ताकतों व संघर्षों को एकजुट करके लड़ने के सवाल को प्रमुखता से उठाने की ज़रूरत तब भी थी और आज भी है। 'एक पर हमला, सब पर हमला', यानी ऑटो सेक्टर के मज़दूरों की साझा माँगों या माँगपत्रक के इर्द-गिर्द मज़दूरों को और उनकी यूनियनों, संगठनों और समर्थकों को लामबन्द करने की तुरन्त ज़रूरत है। विभिन्न मदर व उसकी वेण्डर कम्पनियों के प्रबन्धन तो एकजुट हैं, लेकिन विभिन्न फैक्ट्रियों के मज़दूर बिखरे हुए हैं। यानी लम्बे समय से हर फैक्ट्री के मज़दूर अकेले-अकेले अपनी-अपनी लड़ाई लड़ रहे हैं। इस तरह वे क्या हासिल कर पाये, कितना हासिल कर पाये, कितनी रोज़गार की सुरक्षा हासिल हो पायी - नतीजे हमारे सामने हैं। अब इस पर तथ्य और तर्क करने की ज़रूरत की भी ज़्यादा गुंजाइश नहीं बची है। ऐसे में ऑटो सेक्टर के मज़दूरों की साझा माँगों के इर्द-गिर्द मज़दूर माँगपत्रक के आधार पर व्यापक मज़दूर आबादी को लामबन्द किया जाये तो निराशा को तोड़कर क्रान्तिकारी ऊर्जा का संचार किया जा सकता है। **दूसरी बात**, लेकिन इस सवाल को भी तभी सही तरीके से हल किया जा सकता है जब मज़दूर हितों को केन्द्र में रखकर ईमानदारी से आगे बढ़ा जाये। यानी इसे संकीर्ण हितों से ऊपर उठे बगैर हल नहीं किया जा सकता है। अकेले-अकेले अपनी नौकरी को बचाने, बहुसंख्यक अस्थायी मज़दूरों (ठेका, अप्रेण्टिस, ट्रेनी आदि)

(पेज 4 पर जारी)

मोदी के 'रामराज' में बढ़ते दलित विरोधी अपराध

योगेश

आज भारत का मुख्य धारा मीडिया, देश को जातिवाद से मुक्त पेश करने की पूरी कोशिश में लगा हुआ है। उसके अनुसार देश में जाति के नाम पर कोई अपराध ही नहीं हो रहा है। लेकिन ज़मीनी हक़ीक़त इससे बहुत अलग है। आज भी जाति के नाम पर देश में लोगों को उनके बुनियादी जनवादी अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है और उन्हें हर तरह की बर्बरता का सामना करना पड़ता है। ऐसी ही एक घटना 2022 में मध्य प्रदेश में घटित हुई लेकिन मीडिया की तमाम "अच्छी" ख़बरों में ये खबर जगह नहीं बना पायी।

अप्रैल 2021 में ग्राम पंचायत के चुनाव के कुछ हफ्ते पहले तथाकथित नीची जाति के श्याम सिंह और उनके बेटे शोध्यान सिंह ने तथाकथित ऊँची जाति के उम्मीदवार महेश चन्द्र को वोट देने से इन्कार कर दिया। महेश चन्द्र के प्रधान बनते ही श्याम सिंह और उनके परिवार पर हमले शुरू हो गये। उनके और उनके परिवार के ऊपर प्रधान महेश चन्द्र के लोगो द्वारा कई हमले किये गये, उन्हें धमकियाँ दी गयी, और उन्हें लूटा गया। यही नहीं बल्कि महिलाओं को बलात्कार तक की धमकियाँ दी गयी। ज़ाहिरा तौर पर किसी को वोट देने या न देने का अधिकार आज एक लोकतान्त्रिक अधिकार है, लेकिन श्याम सिंह और उनके परिवार को अपने इस अधिकार का इस्तेमाल करने के लिए भी ऐसे बर्बरता का सामना करना पड़ता है।

इस मामले में एफआईआर करवाने के बावजूद पुलिस ने इन घटनाओं को नज़रअन्दाज़ कर मामले को रफा दफा करने के प्रयास किये। अक्टूबर 5, 2022 को श्याम सिंह की पत्नी, शकुन्तला देवी पर प्रधान महेश चन्द्र के लोगों ने तेज़ाब फेंक दिया जिससे उनके शरीर पर गहरी चोट आयी। यहाँ तक की उनका एक पैर भी तेजाब से जल गया। और अगले ही दिन, शकुन्तला देवी की मेडिकल रिपोर्ट आने से भी पहले, SP चक्रेश मिश्र ने लोकल मीडिया पोर्टल को बयान देते हुए कहा, ''महिला (शकुन्तला देवी) पर की गयी मेडिकल रिपोर्ट के मुताबिक़, महिला के बदन के घाव तेज़ाब से नहीं बल्कि बिजली के झटके के कारण आये हैं।'' लेकिन कुछ दिनों बाद आये मेडिकल रिपोर्ट ने यह पुष्टि की कि शकुन्तला के घावों का कारण तेज़ाब है। पुलिस-प्रशासन से लेकर न्यायपालिका तक इस तरह के मसले में अक्सर टालू रवैय्या अपनाने का काम करती रही है। इस हादसे से बाद श्याम सिंह का परिवार गाँव छोड़ने को मजबूर हो गया।

यह सिर्फ़ एक घटना है। पिछले महीने 5 मार्च को कर्नाटक में 2 दलित परिवारों का घर जला दिया गया क्योंकि उनके बच्चों ने गाँव से गुजर रही बारात में नाचने का जुर्म किया। 20 मार्च को उत्तर प्रदेश के एक "ऊँची जाति" के अध्यापक ने एक दलित बच्चे को बेदर्दी से इसलिए मारा क्योंकि उसने साझा मटके से पानी पी लिया था। ये केवल कुछ घटनाएँ है, अगर कुछ आँकड़ों को खंगाला जाये तो हर दिन तीन दलित महिलाओं के साथ बलात्कार होता है, हर घण्टे दो दलितों पर हमला, दो दलितों की हत्या, और दो दलित घरों में आग लगा दी जाती है। 2020 की तुलना में 2021 में दलितों के ख़िलाफ़ अत्याचार/अपराध में 1.2% की वृद्धि हुई है। 2021 के दौरान उत्तर प्रदेश में दलितों के ख़िलाफ़ अत्याचार के सबसे अधिक मामले 25.82% दर्ज किये गये, इसके बाद राजस्थान में 14.7% और मध्य प्रदेश में 14.1% मामले दर्ज किये गये। वहीं 2020 की तुलना में 2021 में आदिवासियों के ख़िलाफ़ अत्याचार/अपराध में 6.4% की वृद्धि हुई है। मध्य प्रदेश ने 2021 के दौरान आदिवासियों के ख़िलाफ़ अत्याचार के मामलों की सबसे अधिक संख्या 29.8% दर्ज की, इसके बाद राजस्थान में 24% और ओडिशा में 7.6% दर्ज किये गये। ये तथ्य इस बात को ध्यान में रखकर पढ़े जायें के कई अपराध तो दर्ज भी नही होते हैं।

लेकिन आज यह बात समझने की ज़रूरत है कि पहचान के आधार पर अत्याचार के ख़िलाफ़ लड़ाई महज़ पहचान के आधार पर नहीं लड़ी जा सकती, क्योंकि अपने आप में पहचान की राजनीति समाज में होने वाले उत्पीड़न को उसके सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक समीकरणों से काट देती है, और उसे केवल पहचान तक ही सीमित कर देती है। ऊपर वर्णित आँकड़ों में अगर हम सामाजिक उत्पीड़न झेलने वाली आबादी की आर्थिक पृष्ठभूमि देखें तो हम पायेंगे कि इनमें से अधिकतम उत्पीड़ित लोग गरीब तबके से आते हैं। यह आबादी सबसे अधिक जातिगत भेदभाव का दंश झेलती है जिसका आधार अन्ततः मौजूदा समाज के आर्थिक ढाँचे में मिलेगा जो मुनाफ़े से संचालित होती है। आज हमारे देश में हर तरह की पहचान की राजनीति अन्ततोगत्वा संघ और भाजपा की ब्राह्मणवादी मानसिकता को मज़बूती देने का ही काम करती है, क्योंकि यह आम मेहनतकश जनता को उनकी पहचान के आधार पर विभाजित कर देती है जिसके एक हिस्से को आरएसएस और भाजपा भी धार्मिक और जातिगत उन्माद फैलाने वाली भीड़ में शामिल कर लेता है। इससे जातिगत उत्पीड़न तो कम नहीं होता, लेकिन जाति के नाम पर पहचान की राजनीति करने वाले नेताओं के लिए वोट बैंक ज़रूर तैयार हो जाता है।

इसलिए आज हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि जाति उन्मूलन का रास्ता पहचान की राजनीति द्वारा नही बल्कि सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के माध्यम से ही किया जा सकता है। और इसी विचारधारा के आधार पर आज जुझारू अखिल भारतीय जाति विरोधी आन्दोलन खड़ा करने की ज़रूरत है जिसके तहत जातिगत उत्पीड़न के ख़िलाफ़ एक वर्गीय लामबन्दी की जाये और हर वह व्यक्ति जो चाहे किसी भी जाति का हो, वह अगर जातिगत उत्पीड़न के ख़िलाफ़ खड़ा है तो एक साझा मंच पर आकर जातिगत उत्पीड़न के ख़िलाफ़ ज़मीनी संघर्ष करे। ज़ाहिरा तौर पर यह संघर्ष महज़ प्रतीकात्मक लड़ाई से आगे जाकर ठोस मुद्दों पर संघर्ष होगा जो पहचान की राजनीति और विचारधारा के बरक्स एक सही मज़दूरवर्गीय नज़रिये से जाति उन्मूलन की ओर क़दम बढ़ायेगा।

नरेन्द्र मोदी की डिग्री पर विवाद

असली सवाल डिग्री होने या न होने का नहीं, बल्कि प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी द्वारा अपने हलफ़नामे में फ़र्ज़ीवाड़ा करने और झूठ बोलने का है

● अन्तरा घोष

राजनीति में किसी विश्वविद्यालय या स्कूल की डिग्री होना अनिवार्य नहीं हैं। हमने राजनीति के भीतर भारी-भरकम डिग्रियों वाले भारी-भरकम मूर्ख पर्याप्त मात्रा में देखे हैं। प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी की डिग्री को लेकर अभी भारी विवाद जारी है। 'आम आदमी पार्टी' के भारी नेता केजरीवाल ने इसको भारी मुद्दा बनाया है कि भारत के प्रधानमन्त्री को पढ़ा-लिखा होना चाहिए तभी वह सरकार चला सकता है। नोटबन्दी, जीएसटी के फ़ैसलों आदि को केजरीवाल ने प्रधानमन्त्री के भारी अनपढ़पन की निशानी बताया। केजरीवाल के इस स्टैण्ड ने एक बार फिर से आम आदमी पार्टी के मध्यवर्गीय चरित्र को ही उजागर किया है। मध्यवर्ग के राजनीतिक चेतना से रिक्त मूर्ख ही राजनीति में डिग्री के आवश्यक होने पर इस प्रकार ज़ोर दे सकते हैं।

राजनीति क्या है? वर्ग संघर्ष, यानी समाज में पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच संघर्ष, पूँजीपति वर्ग के विभिन्न आपसी हिस्सों के बीच जारी जद्दोजहद, मध्यवर्ग के विभिन्न संस्तरों के एक ओर पूँजीपति वर्ग और दूसरी ओर मज़दूर वर्ग से सम्बन्धों, आदि के अलग-अलग वर्गों के राजनीतिक नेतृत्व की नीतियों, योजनाओं व कार्रवाइयों में प्रतिबिम्बन को ही हम राजनीति कहते हैं। यानी राजनीति और कुछ नहीं बल्कि अलग-अलग वर्गों द्वारा वर्ग संघर्ष में सूत्रबद्ध की जाने वाली नीतियों, योजनाओं, रणकौशलों, और उन्हें कार्रवाइयों के रूप में कार्यान्वित करना ही है। यह हथियारों के बजाय 'अन्य माध्यमों से होने वाला युद्ध' है, जो वर्गों के बीच में जारी रहता है।

ऐसे में, राजनीति में जिस योग्यता की आवश्यकता है, जो कि किसी भी राजनीतिक नेता में होनी चाहिए, वह महज़ इतनी है कि वह जिस वर्ग का सचेतन प्रतिनिधि है, उस वर्ग के हितों की नुमाइन्दगी और सेवा वह कर सकता है या नहीं, वह उन्हें समझता है या नहीं, वह अपने वर्ग के दूरगामी हितों का सामूहिकीकरण कर सकता है या नहीं और इनके लिए अन्य वर्गों के राजनीतिक नुमाइन्दों से प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष कर सकता है या नहीं। इसके लिए किसी का ग्रेजुएट या पोस्टग्रेजुएट होना कतई अनिवार्य नहीं बनाया जा सकता है। एक तकनोशाह टुटपुँजिया राजनीति का वाहक ही यह बात कह सकता है, जैसे कि अरविन्द केजरीवाल।

सवाल दूसरा है। सवाल यह है कि नरेन्द्र मोदी अगर 10वीं तक ही पढ़े हैं, तो झूठ बोलने की क्या ज़रूरत थी? अम्बानियों, अडानियों, टाटाओं, बिड़लाओं के वर्ग का राजनीतिक नुमाइन्दा होने की कुशलता और योग्यता तो जिस क़दर नरेन्द्र मोदी ने दिखायी है, उसके सामने केजरीवाल पानी भरते नज़र आयेंगे! ऐसे में, डिग्री को लेकर झूठ बोलने की ज़रूरत क्या थी?

हम जानते हैं कि सारे फ़ासीवादी मूलत: कुण्ठितमना लोग होते हैं। फ़ासीवादी राजनीति ही टुटपुँजिया वर्गों की बंजर हताशा और अक्षमता से पैदा होने वाली प्रतिक्रिया से जन्म लेती है और अन्तत: बड़ी पूँजी के हितों की नग्नता से सेवा करती है। ऐसे में, ऐसी राजनीति के शीर्ष पुरुष के मन में भी कुण्ठा की ग्रन्थि जड़ जमाये हो तो इसमें कोई अचरज की बात नहीं है। फ़ासीवादियों में अक्सर नाम इतिहास में दर्ज करवाने की एक अजीब ललक होती है। वे बुरी तरह से आत्ममुग्ध भी होते हैं और अपनी असलियत के प्रति सचेत होने के कारण बुरी तरह से कुण्ठित भी होते हैं। वास्तव में, हर आत्ममुग्धता किसी न किसी प्रकार की कुण्ठा से ही जन्म लेती है। सच्चा ज्ञान कभी आत्मुग्धता या घमण्ड नहीं पैदा कर सकता है। इसका मोदी में नितान्त अभाव है, इस पर शायद ज़्यादा भाजपा वाले भी बहस नहीं करना चाहेंगे। आखिर उन्हीं के सुप्रीम लीडर ने दावा किया था कि नाली की गैस से चाय बनायी जा सकती है, बादलों के पीछे होने पर जहाज़ को रडार नहीं पकड़ पाता, क्लाइमेट नहीं बदल रहा है, बस हम बदल गये हैं, सिकन्दर बिहार गया था, आदि। तो इसमें तो कतई सन्देह नहीं किया जा सकता है कि यदि सिर्फ़ विज्ञान और इतिहास के ज्ञान की बात करें, तो ऐसा नगीना आज तक कभी हिन्दुस्तान का प्रधानमन्त्री नहीं बना है। मोदी जी तो विज्ञान और इतिहास पर विमर्श को एक नयी जगह ही लेते गये हैं!

लेकिन राजनीति करने का कौशल मोदी के पास बेशक़ है: फ़ासीवादी राजनीति करने का कौशल। क्योंकि इसके लिए इन ही चीज़ों की आवश्यकता है: एक अन्धी प्रतिक्रिया की दिमाग़ में मौजूदगी, ग़रीबों से नफ़रत और घृणा, पूँजीपतियों के वर्ग की सेवा करने का उन्माद, जनता को साम्प्रदायिकता और फ़िरकापरस्ती के ज़रिये बाँटने की कला, विज्ञान और इतिहास के बारे में वास्तव में जानकारी रखने वाले लोगों के प्रति ईर्ष्यापूर्ण नफ़रत की भावना, आदि। क्या कोई भी कह सकता है कि इन चीज़ों की मोदी जी में कोई कमी है? कतई नहीं। इन गुणों का वरदान तो मोदी जी को खंचिया भर-भर के मिला है।

लेकिन एक सवाल उठता है। **अगर मोदी जी की डिग्री फ़र्ज़ी है, और मोदी जी ने सार्वजनिक जीवन में और अपने क़ानूनी हलफ़नामे में झूठ बोला है, तब तो उनकी लोकसभा सदस्यता रद्द होनी चाहिए, उनपर जुर्माना लगना चाहिए और उन्हें सम्भवत: हवालात की हवा भी खानी चाहिए।** अब हम सभी (कम-से-कम मन ही मन!) यह जानते हैं कि डिग्री तो फ़र्ज़ी ही है। माने कि जिस डिग्री में 'यूनीवर्सिटी' की स्पेलिंग ग़लत ('यूनीबर्सिटी') लिखी हो, एक ऐसा विषय लिखा हो जो उस विश्वविद्यालय में कभी पढ़ाया ही नहीं गया और न ही पूरी दुनिया के किसी विश्वविद्यालय में पढ़ाया जाता हो, एक ऐसे फॉण्ट में डिग्री छपी हो जो फॉण्ट ही 1992 में आया जबकि डिग्री 1983 के होने का दावा मोदी जी ने किया है, तो स्पष्ट है कि दाल में कुछ काला नहीं है, बल्कि पूरी दाल ही काली है। आज तक मोदी जी का कोई सहपाठी बरामद नहीं हुआ, न कोई शिक्षक मिला जिसने मोदी जी को पढ़ाया हो! मतलब, कोई माने या न माने, असल में तो डिग्री फ़र्ज़ी ही प्रतीत होती है। वरना गुजरात विश्वविद्यालय को डिग्री दिखाने में कोई दिक़्क़त नहीं होनी चाहिए थी और गुजरात उच्च न्यायालय द्वारा केजरीवाल पर रु. 25000 का जुरमाना करने का तो कोई मतलब ही नहीं था क्योंकि गुजरात विश्वविद्यालय से मोदी जी की डिग्री तो केन्द्रीय सूचना आयोग ने माँगी थी, केजरीवाल ने नहीं! तो फिर केजरीवाल पर जुरमाना? ज़ाहिर है, मोदी जी अपनी डिग्री को राष्ट्रीय सुरक्षा का दस्तावेज़ मानते हैं और इसलिए उसे खुफ़िया रखा जाना ज़रूरी है!

ज़ाहिर है, **यह सारा प्रपंच केवल सच्चाई को छिपाने के लिए है।** अगर देश का प्रधानमन्त्री अपनी भीतरी कुण्ठा के कारण क़ानूनी हलफ़नामे में झूठ बोलते पकड़ा जाये, तो क्या उस पर कोई भरोसा कर सकता है? तो क्या उसे सज़ा नहीं होनी चाहिए? क्या उसकी लोकसभा सदस्यता रद्द नहीं होनी चाहिए? आप ख़ुद सोचिए और फैसला करिए।

मज़दूरों के ख़िलाफ़ झूठे केसों को वापस लेने और बर्ख़ास्त मज़दूरों की बहाली के लिए संघर्ष को कैसे आगे बढ़ायें?

(पेज 3 से आगे)

के वेतन बढ़ाने की जगह अल्पसंख्यक स्थायी मज़दूरों के वेतन बढ़ाकर रुक जाने व सन्तोष कर लेने से प्रबन्धन का हाथ ही मज़बूत हुआ है। अभी तक विभिन्न कम्पनियों का प्रबन्धन बहुसंख्यक मज़दूरों की सामूहिक एकता को विभिन्न तरीके से तोड़ने में क़ामयाब हुआ है। **तीसरी बात** इस संघर्ष में मौजूद विभिन्न मज़दूर यूनियनों व संगठनों द्वारा अपने-अपने संकीर्ण सांगठनिक हितों को प्राथमिकता देने से मज़दूरों की एकता और संघर्षों को नुकसान ही हुआ है। आन्दोलन के दौरान संकीर्ण चुनावी व राजनीतिक गिनतियों-मानतियों और संकीर्ण सांगठनिक हितों का नतीजा हम कैथल और रोहतक के बीच भटककर और पुलिस-प्रशासन के दमन के रूप में देख चुके हैं। लेकिन विडम्बना यह है कि अभी हम इस कार्यशैली से उबरे नहीं हैं। अभी भी कई व्यक्तियों, उनकी यूनियनों व उनके संगठनों द्वारा निम्नस्तरीय एकता स्थापित करके अपने से अलग व आलोचनात्मक बात करने वाले लोगों, यूनियनों के ख़िलाफ़ कुत्साप्रचार जारी रखे हुए हैं। इन व्यक्तियों, उनकी यूनियनों व संगठनों की पूरी कार्यप्रणाली भी कतई जनवादी नहीं है। मज़दूरों की जनरल बॉडी को किनारे रखकर गुपचुप फैसले लेने की उनकी प्रवृत्ति से भी आन्दोलन को काफ़ी नुकसान हुआ है। अलग बात रखने वाले संगठनों के वक्ताओं को बोलने न देना, अपने जैसी बात करने वालों को खुली छूट देना, मंचो को बैनरों व पोस्टरों से चमकाने का संकीर्ण राजनीतिक व्यवहार जारी है। इसका नतीज़ा यह है कि आज संघर्ष क़ानूनी दायरे तक ही सिमटता हुआ, लगातार दम तोड़ता जा रहा है। 1800 ठेका मज़दूर तो पहले ही काफ़ी दूर जा चुके हैं। स्थायी बर्ख़ास्त मज़दूरों की लगभग एक चौथाई ताक़त ही धरने-प्रदर्शन में इकट्ठी हो पाती है। जिसमें अधिकांश साथी विभ्रम और निराशा की तरफ़ तेज़ी से बढ़ते जा रहे हैं। संकीर्ण सांगठनिक हितों को प्राथमिकता देने की वजह से कभी 'मज़दूरवाद' तो कभी हिरावलपन्थ का भटकाव जारी है। केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों का दक्षिणपन्थी, संशोधनवादी अर्थवाद व समझौतापरस्ती से लेकर मासा जैसे मंच के इर्द-गिर्द संगठित यूनियनें व संगठनों का अर्थवादी व 'मज़दूरवादी' "संघर्ष अभियान" जारी है। विविध "इन्क़लाबी" और "सहयोग" केन्द्रों के जुझारू अर्थवाद से लेकर 'मज़दूरवाद' व स्वत:स्फूर्ततावाद की कीमत मारूति की मज़दूर आन्दोलन ने बार-बार चुकायी है और अभी भी चुका रहा है। ऐसी धाराएँ क्रान्तिकारी राजनीतिक अर्थशास्त्र की भी कोई समझदारी नहीं रखती हैं और इतिहास की भी कोई समझदारी नहीं रखतीं। ये धाराएँ अवसरवादी कार्यपद्धति का इस्तेमाल करती हैं, हालाँकि इससे अब तक इन्हें भी कुछ हासिल नहीं हुआ। इनकी कार्यशैली ग़ैर-जनवादी और निम्नस्तरीय एकता बनाने की होती है। इन प्रवृत्तियों से मारूति मज़दूर आन्दोलन के समझदार साथियों को किनारा करना चाहिए। ऐसा न करने का नतीजा हम अब तक देख चुके हैं। **अन्तिम और चौथी बात** यह है कि अगर साझा माँगपत्रक पर सहमति बन भी जाये और साझा संघर्ष का ऐलान भी हो जाये तो भी सभी यूनियनों और मज़दूर संगठनों द्वारा महज़ जुबानी समर्थन नहीं बल्कि सक्रिय भागीदारी द्वारा ही हमारी समस्याओं का समाधान हो सकता है। इसकी वजह यह है कि दर्ज़नों कम्पनियों के मुद्दे, यूनियनों के माँगपत्रकों पर प्रबन्धन और श्रम विभाग में कोई सुनवाई और कार्रवाई नहीं हो पा रही है। विभिन्न फेडरेशनों और उनके ट्रेड यूनियन काउन्सिल के होने के बावजूद उनका कोई अर्थ नहीं है क्योंकि वे सक्रिय तौर पर आन्दोलन में शिरक़त ही नहीं करते हैं। उनका समर्थन और शिरक़त केवल प्रतीकात्मक और जुबानी जमाख़र्च तक ही सीमित रहता है। मौक़ापरस्ती और अपने-अपने फ़ायदे-नुकसान को देखने की वजह से हम कुछ नहीं कर पाते हैं। जिसका फ़ायदा सीधा मालिक-प्रबन्धन को होता है।

इस वक्त पूँजीपति वर्ग मुनाफ़े की गिरती औसत दर के संकट का शिकार है। मुनाफ़े की औसत दर को बढ़ाने और बरक़रार रखने के लिए आम तौर पर पूँजीपति वर्ग ऑटो सेक्टर समेत सभी सेक्टरों में ठेकाकरण, स्थायी श्रमिकों की तादाद को घटाने, श्रम सघनता व कार्यदिवस को बढ़ाने और वास्तविक मज़दूरी को घटाने की रणनीति पर अमल कर रहा है। स्थायी मज़दूरों की जगह छमाही, ट्रेनी, अप्रेण्टिस के नाम पर सस्ते, अस्थायी और असुरक्षित मज़दूरों से उत्पादन करवाया जा रहा है ताकि मज़दूरों द्वारा संघर्ष और प्रतिरोध होने पर और आर्डर न मिलने पर उन्हें आसानी से निकाला जा सके। श्रम विभाग व लेबर कोर्ट में मामले चलते रहते हैं। अगर कभी-कभार मज़दूर पक्ष में फैसले आ भी जाते हैं तो अधिकांश मामलों में लागू नहीं हो पाते हैं, क्योंकि श्रम विभाग और प्रशासन उसे लागू नहीं करवाता है। दूसरी तरफ़ मज़दूरों की कोई संगठित ताकत ज़मीन पर ताक़ के बूते प्रबन्धन को मज़बूर करने की स्थिति में भी नहीं है। ऐसे में, समूचे ऑटो सेक्टर की एक सेक्टरगत यूनियन ही मालिकों और उनकी सरकारों का मुक़ाबला कर सकती है। अलग-अलग कारखाने के संघर्षों को मालिकान व प्रबन्धन सरकार की मदद से दबा सकते हैं, लेकिन समूचे सेक्टर के मज़दूरों के आन्दोलन से निपटने की शक्ति उनके पास नहीं है। इसलिए यही एकमात्र रास्ता है, जिस पर चलकर हम अपनी माँगों को जीत सकते हैं।

सावधान! 2024 के चुनावों की हो रही तैयारी!

धार्मिक त्योहारों को दंगों का औज़ार बनाकर संघ परिवार और भाजपा द्वारा साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की साज़िश शुरू हो चुकी है

वारुणी

रामनवमी के मौक़े पर देशभर के कई राज्यों में साम्प्रदायिक तनाव की ख़बरें सामने आयीं जिसमें गुजरात, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश और बिहार शामिल हैं। रामनवमी के मौक़े पर गुजरात के वडोदरा, महाराष्ट्र के छत्रपति संभाजीनगर-जलगांव, पश्चिम बंगाल के हावड़ा-इस्लामपुर और उत्तर प्रदेश के लखनऊ में पथराव और आगजनी की घटनाएँ हुईं। बिहार के सासाराम और नालंदा में व्यापक स्तर पर हिंसात्मक घटनाएँ हुईं। नालंदा के बिहार शरीफ़ में फायरिंग हुई है, जिसमें 7 लोगों को गोली लगी है। बिहार शरीफ़ में ही एक मदरसे को जलाकर राख कर दिया गया। इन हिंसा की घटनाओं में अभी तक कुल तीन मौतें हुई हैं। अभी भी कई जगह हिंसात्मक गतिविधियाँ बन्द नहीं हुई हैं और तनावपूर्ण माहौल बरक़रार है। इस पूरे घटनाक्रम के बाद अमित शाह और भाजपा द्वारा यह बयानबाजी हो रही है कि जो राज्य सरकारें दंगाइयों को काबू करने में सक्षम नहीं हैं, उन्हे सत्ता भाजपा को सौंप देनी चाहिए। ग़ौर करने लायक बात है कि ज़्यादातर ग़ैर-भाजपा शासित राज्यों में यह साम्प्रदायिक हिंसा फैली है और एक ऐसे वक्त में फैली है या ज्यादा सटीक होगा यह कहना कि फैलायी गयी है जब अडानी-हिंडनबर्ग घोटाले पर मोदी सरकार के भ्रष्टाचार की पोल खुल रही थी और जब जनता महँगाई को लेकर मोदी सरकार से त्रस्त थी! भाजपा हर तरफ़ अपने भोंपू मीडिया द्वारा यह प्रचार करवा रही है कि दंगा भड़काने का काम मुस्लिम अल्पसंख्यकों ने किया है क्योंकि रामनवमी जुलूस पर पत्थरबाजी मुसलमान-बहुल इलाकों में की गई है।

आपको बता दें कि ज़्यादातर जगहों पर संघ के ही अनुषंगी संगठनों जैसे बजरंग दल, विहिप, दुर्गा वाहिनी आदि द्वारा रामनवमी पर रैली का आयोजन किया जा रहा था। कई जगहों पर जानबूझकर मस्जिदों व संवेदनशील जगहों से जुलूस निकालने पर ज़ोर दिया गया। ऐसे धार्मिक जुलूसों को साम्प्रदायिक रंग देने के लिए जुलूस के वक्त अल्पसंख्यक समुदाय विशेष के सम्बन्ध में आपत्तिजनक नारे लगाए जाते हैं। ऐसे भड़काऊ गाने और नारों के साथ जुलूस निकालने का एक विशेष मक़सद होता है। सोची समझी साज़िश के तहत ऐसे तमाम त्यौहार या धार्मिक दिन के मौक़े को एक साम्प्रदायिक रंग देने का काम किया जा रहा है। सड़कों पर त्रिशूल व तलवारें लहराने और डीजे लेकर आपत्तिजनक गाने और नारों के ज़रिए हिन्दू-मुस्लिम के बीच तनाव पैदा करने की कोशिश की जाती है जोकि इस बार भी की गई। बजरंग दल, विश्व हिन्दू परिषद से लेकर तमाम संघ के संगठन इस काम को बड़े ही सुनियोजित ढंग से अंजाम देने का काम कर रहे हैं। इस बार भी ठीक लोकसभा चुनावों से पहले रामनवमी जुलूस के मौक़ पर बजरंग दल व संघ के अन्य संगठनों द्वारा ऐसे संवेदनशील जगहों से जुलूस आपत्तिजनक नारों और गानों के साथ निकाले गये। इसकी एक दूसरी प्रतिक्रिया मुस्लिम बहुल इलाक़े में जुलूस पर पथराव के रूप में सामने आती है। दोनों ही तरफ़ की कट्टरपन्थी ताकतों ने ऐसे मौकों पर तनाव को बढ़ाने का काम किया। घटना के उपरान्त पूरे मीडिया चैनल व सोशल मीडिया के ज़रिए यह स्थापित किया जा रहा है कि रामनवमी के मौक़े पर शान्तिपूर्ण रूप से निकाले जा रहे जुलूस पर मुस्लिम आबादी ने पथराव किया।

दूसरी तरफ़ गोदी मीडिया झूठ और अफ़वाहों के ज़रिए भाजपा की साम्प्रदायिक फ़ासीवादी राजनीति को आम जन के बीच पैठा रही है। हिन्दुओं को अपने धर्म की रक्षा की दुहाई दी जा रही है और भाजपा को उनके कर्ता-धर्ता के रूप में प्रदर्शित किया जा रहा है! मीडिया आज पहले से ज़्यादा बड़ा दंगाई बनकर सामने आ चुका है। इन हिंसा की घटनाओं को ऐसे पेश कर के भाजपा अपने ध्रुवीकरण की राजनीति को अच्छे से अंजाम दे रही है। असल में रामनवमी के बाद उछाले गए साम्प्रदायिक उन्माद के शोर में जनता के असली मुद्दे दबा दिये गये है। जिस प्रकार से अदानी का मुद्दा लगातार मोदी सरकार के लिए सिरदर्द बनता जा रहा था, जिस प्रकार से कमरतोड़ महँगाई ने लाख फ़ासीवादी प्रचार के बावजूद जनता को सरकार पर सवाल करने के लिए मजबूर कर दिया था, जिस प्रकार रोज़गार के मुद्दे पर यह सरकार फ़ेल हो चुकी थी, वैसे में ठीक इसी वक्त में हिन्दू-मुस्लिम के मुद्दे में जनता को उलझाने की कोशिश की जाती है। 2024 के लोकसभा चुनावों से पहले यही मुद्दा व्यापक रूप से फैलाया जा रहा है और इसे तूल दिया जा रहा है।

अभी हाल ही में 'हिन्दू जन आक्रोश मोर्चा' के तहत पूरे महाराष्ट्र के लगभग सभी जिलों में 'लव जिहाद' और 'ज़मीन जिहाद' के नक़ली मुद्दों पर बड़ी रैलियाँ आयोजित की गई जिसमें संघ और भाजपा के लोग शामिल थे। इन सभाओं में भड़काऊ भाषण के साथ ही मुस्लिम समुदाय के आर्थिक बहिष्कार का आह्वान किया गया। उसके ठीक बाद रामनवमी के मौक़े पर बजरंग दल, वीएचपी और संघ के ऐसे तमाम अनुषंगी संगठनों द्वारा ख़ासतौर पर ग़ैर-भाजपा शासित राज्यों को निशाने पर लिया गया और सुनियोजित तरीक़े से उन्माद को भड़काने की कोशिश की गई जोकि काफ़ी हद तक सफ़ल हुई। पिछले कुछ सालों में ख़ास तौर पर रामनवमी और आम तौर पर सारे ही हिन्दू धार्मिक पर्वों को साम्प्रदायिक रंग दिया जा रहा है। भाजपा सरकार के सत्तासीन होने के बाद से ऐसे तमाम पर्वों को हिंसक रूप दिया जा रहा है। मुज़फ़्फ़रनगर दंगों के बाद संघ परिवार की हिन्दू वोटों के ध्रुवीकरण करने की नीति में कुछ तब्दीली आई है। फ़ासीवादी ताकतों द्वारा अब छोटे पैमाने पर ऐसे साम्प्रदायिक उन्माद खड़े करने की कोशिश की जाती है और पूरे मीडिया चैनल और तमाम सोशल मीडिया प्लेटफार्म के ज़रिए इन दंगों का गुनहगार मुसलमानों को ठहरा दिया जाता है और अपने जहरीले प्रचार द्वारा बड़े पैमाने पर अल्पसंख्यकों की इस बेहद छोटी आबादी का डर हिन्दू आबादी को दिखाया जाता है और इस प्रकार धर्म के आधार पर एक बड़ी हिन्दू आबादी का ध्रुवीकरण किया जाता है।

एक ऐसे वक्त में जब देश आर्थिक और सामाजिक संकट से जूझ रहा है "हिन्दू धर्म की रक्षा" का नारा दिया जाता है। लेकिन असल में यह "धर्म रक्षा" नहीं

(पेज 6 पर जारी)

सेना में जवानों की बढ़ती आत्महत्याओं का कारण क्या है?

(पेज 1 से आगे)

भयंकर शोषण, उत्पीड़न और अपमान है।

आम सैनिक कौन होते हैं? क्या आपने सुना है कि अमीरज़ादों के बेटे–बेटियाँ सेना में आम सिपाही के तौर पर भर्ती के लिए आवेदन करते हों? नहीं! क्या कभी किसी नेता–मन्त्री–सांसद–विधायक के बच्चे सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में आम सिपाही के तौर पर भर्ती होते हैं? नहीं! यह आम मेहनतकश आबादी, यानी, मज़दूरों, छोटे व मँझोले किसानों, निम्नमध्यवर्ग के लोगों के बेटे-बेटियाँ हैं, जो सेना-पुलिस आदि में आम सिपाही के तौर पर भर्ती होते हैं। बचपन से ही मँहगे निजी स्कूलों में अमीरज़ादों के बच्चों को इंजीनियर, डॉक्टर, आईएएस अधिकारी आदि बनने या पैसा कमाने के लिए विदेश फुर्र हो जाने के सपने दिखाये जाते हैं और उसकी तैयारी करायी जाती है, लेकिन आम सरकारी स्कूलों में सामान्य मेहनतकश आबादी के बेटे-बेटियों को मज़दूर बनकर, छोटा-मोटा कर्मचारी बनकर या फिर सेना-पुलिस में सिपाही बनकर "राष्ट्र" की "सेवा" करने का पाठ पढ़ाया जाता है!

सियाचिन को लेकर मोदी सरकार के कई अण्डभक्त शोर मचाते फिरते हैं कि सियाचिन में जवान लड़ रहा है और तुम नोटबन्दी की लाइन में खड़े नहीं हो सकते! या मोदी जी की इतनी सी बात नहीं मान सकते! 1984 से 2015 तक सियाचिन में 869 सैनिक सिर्फ ख़राब मौसम के कारण अपनी जान गँवा चुके हैं। कुछ साल पहले बी.एस.एफ के जवान तेज बहादुर यादव का वीडियो भी वायरल हुआ था, जिसमें वह बेकार खाना दिये जाने की शिकायत कर रहा है। बाद में उसे निलम्बित कर दिया गया। यह दर्शाता है कि सेना में आम जवानों को किस तरह गुलाम बनाकर "देश सेवा" करायी जाती है, जो वास्तव में और कुछ नहीं बल्कि देश के अम्बानियों, अडानियों की सेवा होती है। देश कोई कागज़ पर बना नक्शा नहीं होता, बल्कि उसमें रहने वाले आम मेहनतकश लोगों से बनता है। अगर उन आम मेहनतकश लोगों के जीवन के हालात ही इतने भयंकर हैं, तो फिर "देशभक्ति" और "राष्ट्रवाद" का शोर केवल आम लोगों को अन्धराष्ट्रवाद के उन्माद में बहाकर पूँजीपतियों की गोटियाँ लाल करने के लिए है। मोदी सरकार इसी "देशभक्ति", के नाम पर वोट माँगती है। पुलवामा हमले में चालीस जवान मारे गये, पर आज तक इसकी जानकारी नहीं मिली कि 400 किलो आर.डी.एक्स इतनी सुरक्षा के बावजूद वहाँ कैसे पहुँचा! आख़िर चुनाव से ठीक पहले ही ये हमला क्यों हुआ? मोदी सरकार सेना पर ख़र्चा तो बहुत करती है, पर आम जवानों को इतने "बड़े बजट" से कुछ भी हासिल नहीं होता। साल 2021 में भारत का सैन्य ख़र्च बढ़कर 76.6 अरब अमेरिकी डॉलर हो गया, जो 2020 के आँकड़ों से 0.9 प्रतिशत अधिक है। वहीं जवानों के ऊपर होने वाला ख़र्च ऊँट के मुँह में जीरे के समान है। एक आरटीआई से प्राप्त जानकारी के अनुसार 9000 फ़ीट से नीचे के स्थानों पर तैनात जवान के लिये प्रतिदिन 100 रुपया 40 पैसा ख़र्च किया जाता है। 9000 फ़ीट से 11,999 फ़ीट तक की ऊँचाई वाले स्थानों पर प्रतिदिन 116 रुपया 56 पैसा और 12000 फ़ीट से अधिक ऊँचाई के स्थानों पर तैनाती की स्थिति में प्रतिदिन 241 रुपया 17 पैसे की दर से प्रत्येक सैनिक पर राशन ख़र्च किया जाता है। अब सोचिए क्या ऐसे कठिन हालातों में काम कर रहे जवानों के लिए इतने कम ख़र्च में काम कर पाना सम्भव है?

सेना में भर्ती का सपना लिए नौजवानों पर सबसे बडा हमला **अग्निवीर** योजना के माध्यम से बोला गया। अग्निवीर योजना वास्तव में सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में रोज़गार को ठेका प्रथा के मातहत ला रही है। यह एक प्रकार से 'फ़िक्स्ड टर्म कॉण्ट्रैक्ट' जैसी व्यवस्था है, जिसके मातहत एक निश्चित समय के लिए जवानों को काम पर रखा जाता है, और फिर दूध में पड़ी मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिया जाता है। यहाँ पर सेना के नाम पर अन्धराष्ट्रवाद फैलाकर जनता को मूर्ख बनाने की भाजपा और संघ परिवार की साज़िशों का भी पर्दाफ़ाश हो जाता है। न जाने सेना और सैनिकों के नाम पर इस देश के आम मेहनतकश लोगों को कितनी बार मूर्ख बनाया जा चुका है। सैनिकों और उनकी क़ुरबानी का हवाला देकर लोगों को भावुक कर दिया जाता है और फिर उनसे जो कुछ वसूला जा सकता है, वह वसूल लिया जाता है। नोटबन्दी के समय भी ऐसा ही किया गया था। तमाम युद्धों के दौरान भी ऐसा किया जाता है, जबकि इन युद्धों के पीछे हमेशा ही पूँजीपतियों के हितों का टकराव होता है और इस टकराव को निपटाने के लिए हज़ारों सैनिकों की बलि दे दी जाती है, जो कि इस देश के आम मेहनतकश लोगों के ही बेटे-बेटियाँ होते हैं।

एक तरफ़ पूँजीपति वर्ग के "राष्ट्र" की रक्षा में आम घरों के नौजवान सेना में जाकर सीमा पर अपनी जान गँवाते हैं, वहीं जब सीमा पर लड़ाई नहीं होती यानी "शान्ति काल" में तो अवसाद, उत्पीड़न, बीमारियों से मरते हैं। कुछ ऐसी ही परिस्थितियाँ क्रान्ति पूर्व-रूस में भी थी, लेनिन सैनिकों के बीच मौजूद इस स्थिति के बारे में लिखते हैं -- "निश्चित ही हमें सैनिकों के जनवादी व आर्थिक-भौतिक अधिकारों के लिए लड़ना चाहिए। शोषण और उत्पीड़न के ख़िलाफ़ उनके संघर्ष के साथ हमें एकजुटता से खड़ा होना चाहिए। हमें सैनिकों के वेतन-भत्ते, जीवन-स्थिति से लेकर अफ़सरों द्वारा किये जाने वाले उत्पीड़न के ख़िलाफ़ उनका साथ देना चाहिए। हर पूँजीवादी देश में फ़ौजी बैरकें उत्पीड़न का अड्डा होती हैं और इसी वजह से ही "क्रान्ति का सरगर्म अड्डा" भी बनती हैं। ऐसी स्थिति ज़ारकालीन रूस में भी थी...रूस में फ़ौजी बैरकें बहुधा किसी भी जेल से बदतर होती हैं; व्यक्तित्व और कहीं इतना कुचला हुआ, इतना उत्पीड़ित नहीं होता, जितना कि बैरकों में, और कहीं इन्सान को सताये जाने, उसे मारे-पीटे जाने और ज़लील किये जाने का इतना बोलबाला नहीं है। और ये बैरकें क्रान्ति के सरगर्म अड्डे बन रही हैं।...सैनिक-नागरिकों की माँगें सामाजिक-जनवाद की, सभी क्रान्तिकारी पार्टियों की, वर्ग-सचेत कार्यकर्ताओं की माँगें हैं। स्वतंत्रता के समर्थकों की क़तारों में शामिल होकर और लोगों का साथ देकर सैनिक स्वतंत्रता और अपनी माँगों की सन्तुष्टि सुनिश्चित करेंगे।" आगे लेनिन लिखते हैं – "अफ़सरों की भौतिक रूप से सुविधाजनक स्थितियों, साधारण सैनिकों के प्रति ख़राब व्यवहार और उनके जीवन की सामाजिक असुरक्षा आदि के रूप में प्रकट होने वाले वर्ग अन्तरविरोधों को सैनिकों के बीच ज़्यादा से ज़्यादा स्पष्ट किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त आन्दोलनपरक प्रचार के ज़रिए आम सैनिकों के बीच यह तथ्य स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि उनका भविष्य अटूट रूप से शोषित वर्गों की नियति के साथ जुड़ा हुआ है। प्रारम्भिक क्रान्तिकारी उद्वेलन के अपेक्षाकृत उन्नत दौर में साधारण सैनिकों और नौसैनिकों द्वारा अपने अफ़सरों का जनवादी ढंग से चुनाव करने और सैनिक परिषदों का गठन करने की माँग पूँजीवादी शासन की बुनियाद को कमज़ोर करने में विशेष लाभदायक सिद्ध हो सकती है।"

जिन सस्ते और अश्लील बयानों के आधार पर मोदी जी की लोकसभा सदस्यता रद्द होनी चाहिए थी...

● सुजय

राहुल गाँधी को सूरत की एक अदालत ने कथित तौर पर समूचे पिछड़े समाज का अपमान करने के आरोप में 2 साल की सज़ा सुनायी और उसके बाद आनन-फ़ानन में लोकसभा सचिवालय ने राहुल गाँधी की सदस्यता रद्द कर दी। वास्तव में, राहुल गाँधी ने जो बोला था वह यह नहीं था कि सारे मोदी चोर हैं, बल्कि यह बोला था कि सारे चोरों के नाम में मोदी सरनेम क्यों है? ऐसी बात तो भाजपा के नेता भी बार-बार बोलते रहे हैं, मसलन, 'सारे मुसलमान आतंकवादी नहीं होते, लेकिन सारे आतंकवादी मुसलमान क्यों होते हैं?' **क्या ऐसे दर्जनों बयानों के आधार पर दर्जनों भाजपा नेताओं पर एक पूरे समुदाय का अपमान करने के आधार पर सज़ा नहीं हो जानी चाहिए?** भाजपा के नेताओं ने कैमरे पर बोला है कि गोरक्षा के नाम पर उन्होंने पहले भी लिंचिंग करवायी है और आगे भी लिंचिंग करवायेंगे। उनकी अभी तक गिरफ़्तारी क्यों नहीं हुई? एक भाजपा नेता ने उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री आदित्यनाथ के सामने मंच से मुसलमान महिलाओं को क़ब्र से निकालकर उनका बलात्कार करने जैसी घृणित बात कही है, एक भाजपा नेता ने मायावती को वेश्या बोला था, नरेन्द्र मोदी सरकार के मन्त्री अनन्तकुमार हेगड़े ने दलितों की तुलना कुत्तों से की थी। **इन सबकी लोकसभा सदस्यता रद्द क्यों नहीं की गयी, उन्हें जेल की सज़ा क्यों नहीं सुनायी गयी?**

ये तो अन्य भाजपा नेताओं के बयान हैं, जिन पर अगर बुर्जुआ कानून के अनुसार भी कार्रवाई होती तो आधी भाजपा जेल में होती। लेकिन स्वयं नरेन्द्र मोदी ने ऐसे बयान दिये हैं, जो कि समूचे समुदायों के अपमान करने के बराबर हैं।

मोदी ने कांग्रेस नेता शशि थरूर की पत्नी के बारे में टिप्पणी करते हुए उन्हें "50 करोड़ की गर्लफ्रेण्ड" कहा था। क्या यह समूचे स्त्री समुदाय का अपमान नहीं है? क्या यह मानहानि नहीं है? क्या इसके आधार पर नरेन्द्र मोदी की लोकसभा सदस्यता उन्हीं मानकों से रद्द नहीं होनी चाहिए जिन मानकों से राहुल गाँधी की सदस्यता रद्द हुई है? (हालाँकि राहुल गाँधी के मामले में तो वे मानक भी नहीं लागू हुए क्योंकि नीरव मोदी, ललित मोदी पिछड़ी जाति के हैं ही नहीं!)

नरेन्द्र मोदी ने अभी क़रीब डेढ़-दो साल पहले ही देश में जारी दंगों के दौरान कहा था, "दंगाइयों को पोशाक से पहचानो"। इसका क्या सीधा मतलब मुसलमानों से नहीं था? क्या इसके आधार पर मोदी की लोकसभा सदस्यता रद्द नहीं होनी चाहिए थी कि वह एक पूरे समुदाय को दंगाई ठहरा रहे थे?

नरेन्द्र मोदी ने सोनिया गाँधी को "कांग्रेस की विधवा" और "जर्सी गाय" और राहुल गाँधी को जर्सी गाय का "वर्णसंकर बछड़ा" कहा था। क्या यह मानहानि नहीं मानी जायेगी? क्या इसके आधार पर मोदी को सज़ा नहीं होनी चाहिए, उनकी लोकसभा सदस्यता रद्द नहीं होनी चाहिए?

ये तो सिर्फ कुछ उदाहरण है। ऐसे दर्जनों सस्ते, अश्लील और शर्मनाक बयान और नौटंकी मोदी मंचों से करते रहे हैं ("दीदी, ओ, दीदी" तो आपको याद ही होगा!)। लेकिन उन पर कभी कोई कार्रवाई नहीं हुई। अब किसी भी जज को मोटाभाई के हाथों अपना लोया तो करवाना नहीं है!

यह सच है कि राहुल गाँधी व उनकी पार्टी कांग्रेस तथा मोदी और उनकी पार्टी भाजपा के बीच जो प्रतिस्पर्द्धा है वह मूलत: और मुख्यत: इस बात की है कि अगले पाँच सालों के लिए देश के पूँजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी यानी सरकार को चलाने का काम कौन करेगा। मोदी एक फ़ासीवादी पार्टी और राजनीति के प्रतिनिधि हैं, जो कि आम मेहनतकश जनता की सर्वाधिक ख़तरनाक दुश्मन है, जबकि राहुल गाँधी एक ग़ैर-फ़ासीवादी मध्य-दक्षिणपंथी (सेण्टर राइट) कांग्रेस पार्टी और उसकी राजनीति के प्रतिनिधि हैं, जो पूँजीवादी नीतियों की ही हामी है। संघ परिवार और उसके चुनावी विंग भाजपा का इतिहास साम्प्रदायिक तनाव भड़काकर दंगे करवाने, साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण कर चुनावी फ़ायदा उठाने वाले एक साम्प्रदायिक फ़ासीवादी दल का इतिहास है, जो कि नवउदारवाद की जनविरोधी नीतियों को सबसे तेज़ रफ्तार से और तानाशाहाना तरीके से लागू करना चाहती है ताकि मन्दी के असर से मालिकों-ठेकेदारों-व्यापारियों को कुछ राहत मिले; जबकि कांग्रेस का इतिहास ज़रूरत पड़ने पर नर्म केसरिया लाइन लागू करने और ज़रूरत पड़ने पर इस्लामी कट्टरपंथ का तुष्टीकरण करने वाली पार्टी का इतिहास है, जो आर्थिक तौर पर निजीकरण, भूमण्डलीकरण और उदारीकरण की नवउदारवादी नीतियों में ही भरोसा करती है। एक फ़ासीवादी पूँजीवादी पार्टी और ग़ैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी पार्टी के बीच जो अन्तर होता है, उसे हम भाजपा और कांग्रेस के बीच में देख सकते हैं। मन्दी और संकट के दौर में भाजपा और मोदी-शाह की तानाशाहाना फ़ासीवादी सत्ता भारत के पूँजीपति वर्ग के लिए ज़्यादा ज़रूरी है और इसीलिए पूँजीपति वर्ग की बहुसंख्या का समर्थन मोदी को हासिल है। फ़ासीवाद की यह ख़ासियत होती है कि उसका असली, मूल और अन्तिम निशाना व्यापक मेहनतकश आबादी होती है, लेकिन वह जिस प्रकार की राजनीति है, उसमें फ़ासीवादी सत्ता के लिए हर प्रकार के राजनीतिक विरोध को कदम-दर-कदम दबाना और कुचलना अनिवार्य होता जाता है। इसी वजह से इसके दमन की ज़द में ग़ैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी विपक्षी दल भी आते जाते हैं। आज हम यही देख रहे हैं।

राहुल गाँधी की सदस्यता रद्द होने की असली वजह यह है कि देश में जनता में बढ़ता असन्तोष अपने आपको हर उस सम्भव मार्ग से अभिव्यक्त कर रहा है, जो उसके सामने उसे दिख रहा है। राहुल गाँधी की 'भारत जोड़ो यात्रा' में सामान्य लोगों की एक अच्छी-ख़ासी आबादी ने इसलिए शिरक़त नहीं की थी कि वे राहुल गाँधी और कांग्रेस के समर्थक थे। उन्होंने इसलिए भागीदारी की क्योंकि मोदी सरकार की जनविरोधी नीतियों के फलस्वरूप अभूतपूर्व रूप से बढ़ती बेरोज़गारी, महँगाई, भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिकता के विरुद्ध वे अपना गुस्सा अभिव्यक्त करना चाहते थे। यह जनता के गुस्से का इज़हार था न कि कांग्रेस, जो कि पूँजीपति वर्ग की भारत में सबसे पुरानी पार्टी है, के लिए समर्थन का इज़हार। कोई विकल्प नहीं होता तो जनता इस या उस पूँजीवादी दल के पीछे घिसटने को मजबूर होती है। इसके लिए क्रान्तिकारी शक्तियों द्वारा क्रान्तिकारी जनदिशा का लागू न किया जाना, व्यापक और सघन फ़ासीवाद-विरोधी अभियान न चलाना है, जिसके कारण जनता के पास इस गुस्से को सही दिशा में मोड़ने और अभिव्यक्त करने का कोई चैनल उपलब्ध नहीं है। विपक्ष के नेता के तौर पर राहुल गाँधी को मोदी सरकार को घेरने का एक अवसर मिला है और राहुल गाँधी मोदी सरकार को अडानी घोटाले से लेकर नोटबन्दी व जीएसटी के फ़ैसलों तक पर घेर रहे हैं। चूँकि यह कहीं न कहीं जनता के असन्तोष को भी अभिव्यक्ति देने का मार्ग बन रहा है, इसलिए मोदी सरकार को विपक्षी पूँजीवादी दलों और उनके नेताओं से भी अब इतनी असुविधा हो रही है कि उन्हें अदालतों, फर्जी केसों, ईडी व सीबीआई के ज़रिये आक्रामक तरीके से निशाना बनाकर चुप करने की कोशिशें की जा रही हैं।

अगर जनता जनवादी अधिकारों पर इन फ़ासीवादी हमलों का विरोध करती है तो यह बिल्कुल जायज़ होगा, बशर्ते की जनता की शक्तियाँ यह विरोध स्वतन्त्र राजनीतिक ज़मीन से करें, न कि कांग्रेस या किसी तीसरे मोर्चे की पालकी का कहार बनकर। फासीवाद को बेनक़ाब करने की मुहिम आज सिर्फ फ़ासीवाद-विरोधी ही नहीं बल्कि एक फ़ासीवाद-विरोधी पूँजीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी जनमुहिम के रूप में ही चलायी जा सकती है। जनवादी अधिकारों के हमलों के निशाने पर आज चाहे राहुल गाँधी व तेजस्वी यादव ही क्यों न हों, व्यापक मेहनतकश जनता को राहुल गाँधी या तेजस्वी यादव का समर्थन किये बिना (क्योंकि वे भी पूँजीपति वर्ग के ही प्रतिनिधि हैं) इन हमलों का विरोध करना चाहिए क्योंकि ऐसे सारे हमलों की क़ीमत अन्त में सबसे भारी तौर पर आम मेहनतकश जनता ही चुकाती है। ऐसे हमलों पर चुप रहना फ़ासीवादियों के दमन को वैधता प्रदान करना है और उस ज़मीन पर दावा छोड़ना है, जिस ज़मीन पर जनता अपने हक़ों की लड़ाई को अपेक्षाकृत बेहतर तरीके से लड़ सकती है, यानी जनवाद की ज़मीन। हालाँकि इस पूँजीवादी जनवाद पर रुकना या उसे ही अपना अन्तिम उद्देश्य मानना हमारे लिए अक्षम्य उदारपंथी भूल होगी और हमारा दूरगामी लक्ष्य केवल और केवल मज़दूर सत्ता और समाजवादी व्यवस्था ही हो सकता है। लेकिन उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अपने राजनीतिक वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए किसी भी निरंकुश, तानाशाहाना, फ़ासीवादी सत्ता के मुकाबले पूँजीवादी जनवाद हमें बेहतर ज़मीन मुहैया कराता है और इसलिए पूँजीपति वर्ग, उसके तमाम नुमाइन्दों, पूँजीवादी व्यवस्था और तमाम ग़ैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी पार्टियों के समर्थन या महिमामण्डन की आत्मघाती भूल किये बग़ैर सर्वहारा वर्ग को जनवादी अधिकारों और जनवादी स्पेस को अधिकतम सम्भव बनाने और उस पर होने वाले हर फ़ासीवादी हमले के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलन्द करने की लड़ाई ज़रूर लड़नी चाहिए।

बहरहाल, ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि अगर पूँजीवादी कानून के मानकों से भी चलें तो माननीय मोदी जी को जेल में होना चाहिए था। हमने तो उनके ऐसे बयानों के चन्देक उदाहरण ही पेश किये हैं, आप इनके राजनीतिक करियर की शुरुआत से इनके द्वारा दिये गये ऐसे बेहूदे, अश्लील और सस्ते बयानों की पूरी सूची तैयार करें, तो एक मोटी पुस्तक तैयार हो सकती है। लेकिन जब पूँजीवादी राज्यसत्ता के पोर-पोर में फ़ासीवादी तत्वों की घुसपैठ इस क़दर हो गयी हो, तो क़ानून-व्यवस्था, अदालत, आदि से कोई उम्मीद रखना मूर्खता से कम नहीं होगा।

धार्मिक त्योहारों को दंगों का औज़ार बनाकर साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की साज़िश

(पेज 5 से आगे)

बल्कि फ़ासीवादी मोदी सत्ता की रक्षा की मुहिम है। लोग जब बेरोज़गारी और महँगाई से त्रस्त हैं तभी उनके सामने एक नकली दुश्मन खड़ा किया जा रहा है ताकि जनता अपने असली दुश्मन को न पहचान सके। उनके सामने झूठ और अफ़वाहों की एक ऐसी बारिश की जा रही है कि लोगों को अपने असली सवालों पर सोचने का वक्त ही नहीं मिले। लेकिन हम देख सकते हैं कि चाहे वह ग़रीब हिन्दू हो या ग़रीब मुसलमान दोनों के लिए सबसे पहला सवाल रोटी और रोज़गर का है ना कि "धर्मरक्षा-गोरक्षा" या 'लव जिहाद' का! वैसे तो ऐसे उन्मादों को खड़ा करने का काम मुख्य रूप से फ़ासीवादी संघ परिवार द्वारा किया जाता है लेकिन उसके ही पूरक के रूप में इन उन्मादों को मुस्लिम कट्टरपन्थी ताकतों द्वारा भी बढ़ावा दिया जाता है। आम लोग गरीबी, असुरक्षा और अनिश्चितता से इस कदर हताश होते हैं कि साम्प्रदायिक ताकतों द्वारा खड़ी की गई नक़ली दुश्मन की छवि को सच मान बैठते हैं और इस प्रकार अपने ही भाइयों को अपना दुश्मन बना लेते है।

ऐसे में हमें समझने की ज़रूरत है कि ऐसा करने से हम शासक वर्ग के चाल में फँस कर अपना ही नुकसान कर रहे हैं। हमारे हाथों में त्रिशूल और तलवार पकड़ा देने वाली यह मोदी सरकार और संघ परिवार असल में अम्बानी-अदानी की सेवा में लगी है और सबसे नंगे रूप से जनता का शोषण कर रही है। इसी बात पर पर्दा डालने के लिए बहुत ही सुनियोजित तरीक़े से ज़मीनी स्तर पर संघ अपनी तमाम गतिविधियों के ज़रिये जनता को नकली मुद्दों पर संगठित कर रहा है। ऐसे में 2024 में मज़दूरों को ना सिर्फ़ अपना स्वतन्त्र क्रान्तिकारी विकल्प खड़ा करना होगा बल्कि फ़ासीवाद का मुक़ाबला करने के लिए एक कैडर आधारित क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व हमें जनता के असली मुद्दों पर जुझारू जन संघर्ष व जनान्दोलन संगठित करने होंगे। फ़ासीवाद का मुक़ाबला सिर्फ़ चुनावों के ज़रिये नहीं किया जा सकता। अभी हाल में देश भर में हुए रामनवमी जुलूस और महाराष्ट्र में 'लव जिहाद' के ख़िलाफ़ उठे प्रदर्शनों से यह देखा जा सकता है कि फ़ासीवाद असल में निम्न बुर्जुआ वर्ग का एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन होता है जिसका मक़सद बड़ी पूँजी की सेवा करना होता है। मज़दूर, मेहनतकश, निम्न मध्यवर्ग की आबादी के बीच एक क्रान्तिकारी विकल्प न मौजूद होने के कारण जनता का एक बड़ा हिस्सा जो बेरोज़गारी, महँगाई और अपनी असुरक्षा से त्रस्त है वह फ़ासीवादी प्रचार के बहकावे में आ जाता है। ऐसे में ज़रूरत है कि हम ऐसे तमाम इलाक़ों में फ़ासीवादी ताकतों का मुक़ाबला करने के लिए ऐसे संस्थागत कार्यों को बढ़ावा दें जिससे कि आम जन के बीच क्रान्तिकारी प्रचार को पहुँचाया जा सके और लोगों को उनके असली मुद्दों यानी शिक्षा-स्वास्थ्य-रोजगार की माँग पर एकजुट किया जा सके।

ध्यान रहे कि जनता के असल मुद्दों से ध्यान भटकाने के लिए राजनीति का धर्म के साथ गठजोड़ करके उसका सौन्दर्यीकरण करना फ़ासीवादियों की पुरानी फ़ितरत रही है। हमें समझना होगा कि धर्म में हम भले ही अलग रहें लेकिन राजनीति पर एक हो सकते हैं और इसके लिए धर्म को राजनीति और सामाजिक जीवन से बिल्कुल अलग कर देना होगा। तभी हम इस फ़ासीवादी सरकार की साज़िशों को नाकाम कर सकते हैं।

भाजपा और संघ परिवार के गाय-प्रेम और गोरक्षा के बारे में सोचने के लिए कुछ सवाल

● गायत्री भारद्वाज

भाजपा व संघ परिवार की साम्प्रदायिक फ़ासीवादी व धार्मिक कट्टरपन्थी राजनीति का एक अहम पहलू गोरक्षा के नाम पर की जा रही गुण्डागर्दी है, जिसके ज़रिए व्यापक हिन्दू जनता में धार्मिक कट्टरपन्थ और उन्माद भड़काया जाता है ताकि वह अपनी असली समस्याओं पर न सोच सके। मसलन, रसोई गैस का रु. 1200 के क़रीब पहुँचना, पेट्रोल-डीज़ल का रु. 100 के आँकड़े को पार कर जाना, नमक, चावल, दाल आदि बुनियादी खाने की सामग्री पर अन्यायपूर्ण जीएसटी को लगाया जाना, बढ़ती बेरोज़गारी, महँगाई और ग़रीबी आदि समस्याओं से जनता का ध्यान भटकाने के लिए ही गोरक्षा जैसे धार्मिक मसलों को उकसाकर उन्माद पैदा किया जाता है।

यह गाय-प्रेम और गोरक्षा की नौटंकी मूलत: संघ परिवार ने 1960 के दशक में बड़े पैमाने पर शुरू की थी। माफ़ीवीर विनायक दामोदर सावरकर जिसे संघ परिवार वाले अपना विचारधारात्मक गुरू मानते हैं, वह तो गाय को पवित्र पशु नहीं मानता था और न ही माता मानता था। उसने तो साफ़ कहा था कि गाय केवल एक जानवर है। फिर संघियों के लिए गाय यकायक माता कैसे बन गयी और गोरक्षा का भूत उनके ऊपर कैसे सवार हो गया? यह 1960 के दशक में भारतीय समाज में बढ़ती असुरक्षा और अनिश्चितता, बढ़ती बेरोज़गारी, ग़रीबी, भुखमरी का नतीजा था कि संघी फ़ासीवादियों ने पूँजीवादी व्यवस्था के कुकर्मों से जनता का ध्यान भटकाने के लिए गोरक्षा का मसला उछाला।

वास्तव में, 1960 के दशक में यह गोरक्षा का शोर क़ामयाब भी नहीं हो पाया था और अधिकांश लोगों ने उस पर ध्यान भी नहीं दिया था। लेकिन 1970 और 1980 के दशकों में संघ परिवार ने इस मसले को फिर से उठाया और उस समय तक व्यापक निम्नमध्यवर्गीय व मध्यवर्गीय जनता में बेरोज़गारी, महँगाई, ग़रीबी और सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा के कारण गुस्सा और प्रतिक्रिया इतनी बढ़ चुकी थी, कि यह मसला गर्माने लगा। क्योंकि अपनी समस्याओं के पीछे मौजूद सही कारणों की समझदारी न होने पर जनता को कोई नक़ली दुश्मन दिखाकर भरमाया जा सकता है। संघी फ़ासीवादियों ने यही किया। लेकिन वास्तव में इन्हें कोई गाय-प्रेम या गोरक्षा का भूत सवार नहीं है। यह तो केवल आम जनता को धर्म के नाम पर लड़ाने का इनका औज़ार है। आइए देखते हैं कैसे।

अगर भाजपा गाय को ‹माता' मानती है, तो वह गोवा, केरल और उत्तर-पूर्व के राज्यों में 'माता' क्यों नहीं है?

क्या गाय केवल उत्तर भारत में भाजपा की माता है? अगर गाय माता है तब तो वह सारे देश में ही माता होनी चाहिए न! लेकिन इसको लेकर हिन्दू-मुसलमानों में सिर-फुटौव्वल करवाना और ग़रीब मुसलमानों की संघियों की गुण्डा-वाहिनियों द्वारा हत्याएँ करवाना मुख्यत: उत्तर व पूर्वी भारत तथा कर्नाटक, महाराष्ट्र आदि में ही क्यों होता है? ज़रा निम्न प्रश्नों पर धार्मिक पूर्वाग्रहों और कट्टरपन्थ व घृणा की सोच को किनारे रखकर ठण्डे दिमाग़ से विचार कीजिए मेहनतकश भाइयो और बहनो।

क्या गोरक्षा का ढोल बजाने वाला भाजपा का दंगाई नेता संगीत सोम अल दुआ नामक बूचड़खाने का एक निदेशक नहीं था?

क्या आपको पता है कि भाजपा के इसी नेता ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हिन्दू-मुस्लिम दंगे फैलाने में एक अन्य दंगाई भाजपाई नेता सुरेश राणा के साथ मिलकर प्रमुख भूमिका निभायी थी? इसने 'गाय-प्रेम' और गोरक्षा को लेकर भी खूब हल्ला मचाया था। इसी के विधानसभा क्षेत्र दादरी में अख़लाक नामक एक मुसलमान की गोरक्षा के नाम पर संघियों की उन्मादी दंगाई भीड़ द्वारा हत्या कर दी गयी थी। लेकिन बाद में पता चला कि यह खुद अल दुआ नामक एक बूचड़खाने के निदेशकों में से एक रहा था और बूचड़खाने के लिए ज़मीन भी इसी संगीत सोम ने दिलवायी थी! वास्तव में, उसने चुनाव आयोग को दिये अपने एफिडेविट में स्वयं स्वीकार किया था कि वह अल दुआ कम्पनी का एक निदेशक था!

अगला सवाल।

नगालैण्ड के भाजपा नेता विसासोली ल्होंगू ने क्यों कहा कि नगालैण्ड में कभी बीफ़ बैन नहीं लगेगा?

भाजपाइयों को पता है कि नगालैण्ड में वह जनता के हाथों अपने नेताओं को पिटवाने पर मजबूर होगी यदि वह बीफ़ बैन की बात करेगी। वहाँ उसका चुनाव में एक भी वोट पाना मुश्किल हो जायेगा। इसलिए नगालैण्ड में भाजपा का नेता विसासोली ल्होंगू बोलता है कि नगालैण्ड में कभी भी बीफ़ बैन नहीं लगेगा। यहाँ जिसको जो खाना है, वह खाने की पूरी आज़ादी होगी! **तो क्या गाय उत्तर भारत से पूर्वोत्तर भारत में जाते-जाते भाजपा के लिए 'मम्मी' से 'यम्मी' बन गयी? वहाँ वह पवित्र पशु नहीं रह गयी?** सच्चाई यह है कि गाय भाजपा के लिए कोई पवित्र पशु नहीं है, बल्कि एक राजनीतिक पशु है, जिसको लेकर धार्मिक भावनाओं को उभाड़ा जाये और हिन्दू-मुस्लिम दंगे और मॉब लिंचिंग का माहौल पैदा किया जाये, ताकि चुनावों में वोटों की फसल काटी जा सके। जैसा कि गोरख पाण्डे ने अपनी कविता में कहा है:

'इस बार दंगा बहुत बड़ा था
खूब हुई थी
ख़ून की बारिश
अगले साल अच्छी होगी
फसल
मतदान की'

अगला सवाल।

भाजपा नेता व मणिपुर के मुख्यमन्त्री बिरेन सिंह ने क्यों कहा कि मणिपुर में बीफ़ खाने पर कोई रोक नहीं, क्या खाना है यह सबका व्यक्तिगत मसला है?

बात तो सही है, खान-पान, पहनावा, रहन-सहन लोगों का व्यक्तिगत मसला है और इसमें किसी पार्टी या सरकार को दख़ल देने का कोई हक़ नहीं। फिर भाजपा यह दोमुँहापन क्यों दिखाती है? **इसलिए क्योंकि गोरक्षा तो केवल बहाना है, हिन्दू-मुसलमान जनता की एकता तोड़ना असली निशाना है।** भाजपा की मोदी सरकार और संघ परिवार को पता है कि वह जनता से महँगाई, बेरोज़गारी, ग़रीबी, भुखमरी कम करने पर, पूँजीपतियों की लूट पर लगाम लगाने आदि को लेकर तो वोट माँग नहीं सकते हैं! तो फिर क्या किया जाये? जनता को जाति-धर्म पर लड़वाया जाये! अब देखिये, अभी कर्नाटक में चुनाव होने हैं तो वहाँ पर ये भाजपाई भ्रष्टाचारी सरकार पिछड़े मुसलमानों के लिए मौजूद आरक्षण को ख़त्म कर उसे वहाँ की वोक्कलिगा समुदाय और लिंगायत समुदाय में बाँटने की बात कर रही है क्योंकि उसे इन समुदायों का वोट चाहिए। ग़ौरतलब है कि लिंगायत समुदाय की बहुसंख्या तो अपने आपको हिन्दू भी नहीं मानती है, बल्कि अपने आपको एक अलग धार्मिक समुदाय मानती है। लेकिन इसका वोट जीतने के लिए अब भाजपा सरकार उन्हें कर्नाटक में मुसलमानों से लड़वाने की साज़िशें कर रही हैं और आरक्षण को लेकर झगड़ा भड़काना आसान है क्योंकि भाजपा सरकार की नीतियों ने ही बेरोज़गारी को अभूतपूर्व स्तर पर पहुँचा दिया है। रोज़गार के नगण्य अवसरों के लिए मारकाट करवाने के लिए आरक्षण एक अच्छा औज़ार है। **जनता को यह बात समझ लेनी चाहिए कि यही भाजपाइयों का काम है: जनता को आपस में धर्म-जाति पर लड़वाना और फिर उनकी चिताओं पर अपनी चुनावी रोटियाँ सेंकना।**

अगला सवाल।

मेघालय के भाजपा नेता अर्नेस्ट मावरी ने क्यों कहा कि "मैं बीफ़ खाता हूँ, यह मेघालय की जीवनशैली है और इसे कोई नहीं रोक सकता"? मेघालय के भाजपा महासचिव डेविड खरसती ने क्यों कहा कि भाजपा द्वारा उत्तर-पूर्व में बीफ़ बैन लगाने का या उत्तर प्रदेश जैसी बीफ़ बैन की राजनीति करने का कोई इरादा नहीं है?

वजह साफ़ है: मेघालय में अगर कोई भाजपाई नेता बीफ़ बैन की बात करेगा तो वह न सिर्फ कोई वोट नहीं पायेगा, बल्कि आते-जाते सड़कों पर जनता के हाथों पिटता रहेगा। खुद भाजपा के नेता कह रहे हैं कि इन राज्यों की वास्तविकता अलग है! यहाँ पर तो खुद भाजपाई नेता कह रहे हैं कि हम बीफ़ खाते हैं! **ज़रा सोचिए: अगर गाय कोई अलौकिक पवित्र पशु है, तब तो उसका कोई क्षेत्र या राष्ट्रीयता नहीं होनी चाहिए! क्या केवल उत्तर-भारतीय, "हिन्दू" गाय पवित्र है? क्या गायों में इस आधार पर कोई विभाजन किया भी जा सकता है? क्या आपको लगता है कि गायों का भी कोई धर्म होता है? ऐसी बात पर केवल हँसा ही जा सकता है।** आप देख सकते हैं कि यह गाय-प्रेम और गोरक्षा की बातें केवल आपको-हमको आपस में लड़ाने के लिए भाजपाई इस्तेमाल करते हैं क्योंकि उनके पास और कुछ है नहीं।

अगला सवाल।

अरुणाचल प्रदेश के भाजपा के प्रमुख नेता व मन्त्री किरण रिजिजू ने क्यों कहा था: "मैं बीफ़ खाता हूँ, मैं अरुणाचल प्रदेश से हूँ। क्या कोई मुझे रोक सकता है? लोगों की निजी आदतों के बारे में इतना संवेदनशील नहीं होना चाहिए?"

बाद में भाजपा के शीर्ष नेतृत्व द्वारा कान उमेठे जाने और बाँह मरोड़े जाने पर श्री रिजिजू ने अपना बयान बदलकर बोला कि उन्होंने कभी बीफ़ नहीं खाया है, वह बस कुछ राज्यों में जनता के बीफ़ खाने के अधिकार का समर्थन करते हैं! लेकिन जिन राज्यों में हिन्दू-बहुसंख्या है, वहाँ बीफ़ बैन होना चाहिए। लेकिन भाजपा तो इसे भी लागू नहीं करती। केरल में हिन्दू धर्म के लोग ही सबसे ज़्यादा हैं। क्या भाजपा केरल में बीफ़ बैन का समर्थन करती है? आइए देखते हैं।

अगला सवाल।

केरल में मलप्पुरम में उम्मीदवार भाजपा नेता श्रीप्रकाश ने क्यों वायदा किया था कि वहाँ वह बीफ़ की सप्लाई को कम नहीं होने देंगे और बीफ़ के उपभोग पर कभी रोक नहीं लगायी जायेगी?

केरल में स्वयं हिन्दू आबादी का बड़ा हिस्सा बीफ़ खाता है और यह वहाँ की हिन्दू धार्मिक परम्पराओं का सदियों से हिस्सा रहा है। अब कोई यह तो कह नहीं सकता कि मलयाली गाय और उत्तर व पूर्वी भारतीय गाय में उनकी जैविक नस्ल के अलावा कोई फ़र्क है! मतलब, कोई यह तो कह नहीं सकता कि गाय की राष्ट्रीयता या क्षेत्रीयता के अनुसार उसकी पवित्रता निर्धारित होगी! क्योंकि जैसे ही भाजपा और संघ वाले यह कहेंगे वैसे ही गाय की पवित्रता का उनके द्वारा खड़ा किया गया मिथक भी ढह जायेगा क्योंकि पवित्रता की धार्मिक अवधारणा या तो सार्वभौमिक तौर पर लागू होगी, या फिर लागू ही नहीं होगी।

अगला सवाल।

2017 में ख़ुद अमित शाह ने क्यों कहा था कि गोवा में भाजपा का बीफ़ पर बैन लगाने का दूर-दूर तक कोई इरादा नहीं है?

लेकिन फिर भारत के कई अन्य हिस्सों में अलग नियम क्यों? इसलिए क्योंकि वहाँ पर भाजपा गाय को लेकर धार्मिक भावनाएँ और तनाव को भड़का सकती है और फिर वोटों के रूप में उसकी फसल काट सकती है।

अगला सवाल।

भाजपा के वैचारिक गुरू विनायक दामोदर सावरकर ने तो कहा था कि गाय केवल एक पशु है, कोई माता नहीं! इस पर भाजपा का क्या कहना है? कुछ नहीं! क्यों?

वजह साफ़ है : **गोरक्षा केवल बहाना है, जनता की एकता तोड़ना असली निशाना है।**

अगर गाय पवित्र पशु है तब तो सारी दुनिया में ही वह पवित्र पशु होनी चाहिए। नरेन्द्र मोदी सरकार को पूरी दुनिया में बीफ़ बैन के लिए संघर्ष करना चाहिए। आप यह तो कह नहीं सकते कि फ्रांसीसी गाय, जर्मन गाय, अमेरिकी गाय, या ऑस्ट्रेलियाई, जापानी, चीनी, कोरियाई गाय अपवित्र है, यहाँ तक कि अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मणिपुर, नगालैण्ड, केरल, गोवा आदि की गाय भी अपवित्र है,

(पेज 10 पर जारी)

एक व्यापक फ़ासीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी जनान्दोलन खड़ा करना आज का सबसे अहम कार्यभार है

(पेज 1 से आगे)

यह लक्ष्यहीन, हताश-निराश लोगों की एक भीड़ होती है, जिसकी सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा से जन्मी प्रतिक्रिया को फ़ासीवादी संगठन व नेतृत्व द्वारा धर्म, नस्ल, भाषा या क्षेत्र के नाम पर एक सुगठित प्रतिक्रियावादी आन्दोलन का स्वरूप दिया जाता है और उसे पूँजीपति वर्ग की सेवा में संलग्न कर दिया जाता है। फ़ासीवादी उभार का असली निशाना और कोई नहीं बल्कि स्वयं मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी होती है। यही फ़ासीवादी आन्दोलन की प्रमुख विशिष्टता होती है। यह कोई भी साधारण पूँजीवादी जनविरोधी आन्दोलन या सत्ता नहीं है, बल्कि इसके पीछे एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन खड़ा है, इसके नेतृत्व में फ़ासीवादी विचारधारा से लैस एक काडर-आधारित फ़ासीवादी संगठन खड़ा है।

अब उपरोक्त पहचान के पैमानों के आधार पर आप सोचें कि क्या हमारे देश में भी ठीक यही काम संघ परिवार व भाजपा के साम्प्रदायिक फ़ासीवादी दशकों से नहीं करते रहे हैं।

फ़ासीवादी जब सत्ता में पहुँचते हैं तो वे क्या करते हैं?

फ़ासीवादी जब सत्ता में पहुँचते हैं, तो सबसे पहले किसी बहुसंख्यक समुदाय मसलन धार्मिक या नस्ली बहुसंख्यक समुदाय के बीच किसी दूसरे अल्पसंख्यक धार्मिक या नस्ली समुदाय के प्रति डर और नफ़रत पैदा करते हैं। हिटलर ने यहूदियों को जर्मनी की नस्ली बहुसंख्या के समक्ष एक ख़तरे और दुश्मन के तौर पर पेश किया था। भारत में संघ परिवार और आज की मोदी-शाह सत्ता विशेष तौर पर मुसलमानों को "राष्ट्र" के सामने ख़तरे के तौर पर पेश करते हैं। इसके लिए तरह-तरह के झूठ फैलाये जाते हैं और इन झूठों को इतनी बार दुहराया जाता है कि वे सच लगने लगते हैं। मसलन, 'उक्त समुदाय के लोग बच्चे ज़्यादा पैदा करते हैं', 'उक्त समुदाय के लोग गन्दे रहते हैं', 'उक्त समुदाय के लोग देश के प्रति वफ़ादार नहीं हैं', 'उक्त समुदाय के लोग 'लव जिहाद' करके आपकी बीवियों-बेटियों को भगा ले जायेंगे', आदि। पहले से महँगाई, बेरोज़गारी, असुरक्षा और अनिश्चितता से श्रान्त-क्लान्त बहुसंख्यक समुदाय की टुटपुँजिया आबादी का एक हिस्सा इस झूठे प्रतिक्रियावादी प्रचार में बह भी जाता है। लेकिन अगर आप ठोस तथ्यों की पड़ताल करते हैं, तो आप पाते हैं कि ये सारा प्रचार झूठा और बकवास है।

लेकिन व्यापक आम जनता ठोस तथ्यों की तार्किक पड़ताल नहीं कर पाती और अक्सर इसकी चेतना व साधन उसके पास नहीं होते। यदि व्हाट्सऐप के ज़रिये सुबह-शाम लगातार उसपर इस झूठे प्रचार की बमबारी की जाती है, तो अन्ततः वह इससे प्रभावित हो ही जाता है। ऐसे में, वह फ़ासीवाद नेतृत्व व संगठन को अपने बहुसंख्यक धार्मिक/नस्ली समुदाय (मसलन, हिटलर की 'जर्मन आर्य नस्ल' और संघ परिवार का 'हिन्दू राष्ट्र') का इकलौता नुमाइन्दा मानने लगते हैं। फ़ासीवादी नेता व संगठन जब बहुसंख्यक धार्मिक या नस्ली समुदाय के इकलौते नुमाइन्दे या प्रवक्ता के तौर पर अपने आपको स्थापित कर लेते हैं, तो फ़ासीवादी संगठन व नेतृत्व के विरोध में बोलने वाले हर किसी व्यक्ति, संगठन या समूह को "राष्ट्रविरोधी", "देशद्रोही" आदि घोषित कर दिया जाता है। यानी, जो मोदी जी की आलोचना करेगा, संघ परिवार और उसके अनुषंगी संगठनों का विरोध करेगा, वह देशद्रोही व राष्ट्रद्रोही घोषित कर दिया जायेगा, हिन्दू-विरोधी घोषित कर दिया जायेगा। यह एक ख़तरनाक चाल है, जिसे हमें समझने की ज़रूरत है। बहुत से आम मेहनतकश लोग अब इस बात को समझ भी रहे हैं। लेकिन वे बिखरे हुए और असंगठित हैं और उन्हें संगठित करना आज का एक प्रमुख काम बनता है।

इस प्रकार किसी अल्पसंख्यक समुदाय (जैसे कि मुसलमान) के तौर पर एक नक़ली दुश्मन की जिस छवि का फ़ासीवादी ताक़तें निर्माण करती हैं, उस छवि को विस्तारित कर जल्द ही उसमें हर प्रकार के राजनीतिक विरोध को समेट लेने का काम फ़ासीवादी संगठन व सत्ता करते हैं। नतीजतन, ट्रेडयूनियनकर्मी, जनवादी अधिकार कार्यकर्ता, ईमानदार व जनपक्षधर पत्रकार, कलाकार, साहित्यकार, शिक्षा के अधिकार की माँग उठा रहे छात्र-युवा आदि सभी दुश्मन घोषित कर दिये जाते हैं, सब पर "राष्ट्रद्रोही", "देशद्रोही" आदि का ठप्पा लगा दिया जाता है। अब ज़रा सोचिये कि क्या हमारे देश में ठीक यही नहीं हो रहा है? जो भी नरेन्द्र मोदी की आलोचना करता है, उनकी फ़र्ज़ी डिग्री पर सवाल उठाता है, मोदी सरकार को हटाने की बात करता है, किसी भाजपाई नेता से कोई असुविधाजनक सवाल कर देता है, उसे देशद्रोह से लेकर आतंकवाद-रोधी कानूनों तक में जेल में ठूँस दिया जाता है।

यह भी समझने की ज़रूरत है कि पूँजीवादी राजनीतिक दायरे के भीतर तमाम पूँजीवादी दलों के बीच जारी प्रतिस्पर्द्धा में यदि पूँजीवादी विपक्षी पार्टी व उनके नेता भी स्वयं सत्ता में पहुँचने और पूँजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी, यानी सरकार की भूमिका हथियाने के मंसूबे से फ़ासीवादी तानाशाह पर, यानी हमारे देश में नरेन्द्र मोदी पर, सवाल खड़ा करते हैं और यदि वे सवाल असुविधाजनक होते हैं, तो दमन के दायरे में पूँजीवादी विपक्षी पार्टियों के नेता भी कदम-दर-कदम आते जाते हैं। यह फ़ासीवाद की एक ख़ासियत होती है। इनमें से कुछ पूँजीवादी विपक्षी नेता भयाक्रान्त होकर समझौते कर लेते हैं और फ़ासीवादी पार्टी के चाकर बन जाते हैं (जैसे कि मायावती और बसपा), कुछ फ़ासीवादी दमन से बचने के लिए कभी छिपे हुए समझौते तो कभी विरोध की मौकापरस्त रणनीति अपनाते हैं (जैसे सपा और तृणमूल कांग्रेस) और कुछ पूँजीवादी विपक्षी पार्टियाँ ऐसी होती हैं जो अपने विशिष्ट राजनीतिक इतिहास के कारण फ़ासीवाद से खुले तौर पर कोई समझौता नहीं कर सकतीं क्योंकि पूँजीवादी राजनीति से उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा (जैसे प्रमुख विपक्षी दल के तौर पर कांग्रेस व अन्य कारणों से राजद)। पूँजीवादी दलों की फ़ासीवादी पूँजीवादी सत्ता व संगठन से चलने वाली रस्साकशीं बहुत-सी उथल-पुथल से होकर गुज़रती है और यह पूरी प्रक्रिया बहुत से अन्तरविरोधों से भरी होती है। इसे हम आज भी घटित होता हुआ देख रहे हैं। ऐसा भी होता है कि कई बार फ़ासीवादी शक्तियाँ ही अपने मंसूबों को पूरा करने के लिए कोई मोहरा खड़ा करती हैं लेकिन वह अपनी स्वतन्त्र राजनीतिक गति के कारण उनके लिए भस्मासुर बन जाता है या कम-से-कम उनके नियन्त्रण से बाहर जाने लगता है, मसलन 'इण्डिया अगेंस्ट करप्शन' नामक संघ परिवार द्वारा खड़े किये गये आन्दोलन से जन्मी 'आम आदमी पार्टी'। आज पूँजीवादी राजनीतिक आन्तरिक गति के कारण 'आम आदमी पार्टी' और भाजपा के अन्तरविरोध तीखे हो गये हैं। राहुल गाँधी की संसद सदस्यता रद्द होने पर 'आप' के केजरीवाल ने भी भाजपा पर हमला बोला है और मोदी की फर्जी डिग्री के सवाल को भी 'आप' लगातार उठाकर भाजपा सरकार को घेरने का प्रयास कर रही है। हम इन मसलों पर क्यों ध्यान आकर्षित कर रहे हैं? लेनिन ने बताया था कि सर्वहारा वर्ग व्यापक मेहनतकश जनता को नेतृत्व देने और एक राजनीतिक वर्ग के रूप में अपने आपको संघटित करने में तभी कामयाब होता है जब वह समाज के सभी वर्गों की सापेक्षिक स्थिति, उनकी शक्ति, उनके आपसी सम्बन्धों व संघर्ष का एक वस्तुपरक मूल्यांकन करता है। वह शत्रु के खेमे में मौजूद अन्तरविरोधों के तीखे होने व नर्म पड़ने के द्वन्द्व पर भी लगातार निगाह रखता है। इसके बिना वह अपने आम और विशिष्ट रणकौशलों का निर्माण नहीं कर सकता है।

हमें मौजूदा समूचे घटनाक्रम के एक और आयाम पर ध्यान देना होगा। कुछ लोग यह मुग़ालता पाल बैठते हैं कि फ़ासीवादियों के पास हर समस्या के जवाब में रणनीति तैयार होती है, और हर चीज़ उनके नियन्त्रण में होती है। ऐसा नहीं होता है। आर्थिक संकट के कारण पैदा बेरोज़गारी, ग़रीबी, महँगाई पूँजीवादी अर्थशास्त्र की गति के नियम से पैदा होने वाली चीज़ें हैं। फ़ासीवादी सत्ता मन्दी से पूँजीपति वर्ग को राहत देने के लिए चाहे मज़दूर वर्ग की औसत मज़दूरी को गिराने व उसके श्रम व जनवादी अधिकारों को छीनने का कितना भी काम करे, इस बात की कोई गारण्टी नहीं होती कि मुनाफ़े की गिरती औसत दर के कारण पैदा हुई मन्दी से वह उसे तात्कालिक तौर पर भी निजात दिला ही पायेगी। यह बहुत-से अन्य कारकों पर निर्भर करता है: मसलन, विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की स्थिति और उसमें भारतीय अर्थव्यवस्था की पोज़ीशन, मुनाफ़े की औसत दर में गिरावट और औसत मज़दूरी की गिरावट का अनुपात, सट्टेबाज़ी के कारण पैदा होने वाला वित्तीय बुलबुला, आदि। ये सारे कारक फ़ासीवादी सत्ता के नियन्त्रण में नहीं होते। पूँजीपति वर्ग को मन्दी से राहत देने के ही कदमों के तौर पर मोदी सरकार ने तमाम करों से छूट, क़र्ज़ा माफ़ी, रियायती दरों पर बिजली, ज़मीन, आदि देने, औने-पौने दामों पर सार्वजनिक उद्यमों को बेचने, जनता की साझी सम्पत्ति यानी साझा जल, जंगल, ज़मीन को पूँजीपतियों के हवाले करने का काम भी किया है, जिससे सरकार को भारी राजस्व घाटा हो रहा है। वह घाटा सरकार बुनियादी आवश्यक खाद्य पदार्थों तक पर जीएसटी लगाकर, पेट्रोलियम उत्पादों पर करों को भयंकर तरीके से बढ़ाकर पूरा कर रही है, जिसके कारण अभूतपूर्व रूप से बढ़ी महँगाई ने जनता की कमर तोड़ दी है। मौजूदा दौर में, भारत में महँगाई का एक प्रमुख कारण मोदी सरकार द्वारा लादा गया करों का बोझ है, जिसकी वजह यह है कि पूँजीपतियों को दी गयी छूटों के कारण होने वाले सरकारी घाटे की भरपाई मोदी सरकार जनता पर करों के बोझ को बढ़ाकर कर रही है। ऐसे में, व्यापक जनता में भी मोदी सरकार के विरुद्ध असन्तोष और गुस्सा स्पष्ट तौर पर बढ़ा है जो अलग-अलग रूपों में प्रकट हो रहा है और साथ ही फ़ासीवादी प्रचार की पहले की अपेक्षा घटती प्रभाविता में भी अपने आपको प्रकट कर रहा है।

आम जनता का यह बढ़ता गुस्सा ही है जिसके कारण राहुल गाँधी की 'भारत जोड़ो यात्रा' को जनता के एक हिस्से से भी स्वत:स्फूर्त रूप से समर्थन मिला। इस यात्रा में शामिल होने वाले तमाम आम लोग ऐसे थे, जो कांग्रेसी नहीं थे और न ही राहुल गाँधी के राजनीतिक समर्थक थे। वे मोदी सरकार की जनविरोधी नीतियों के फलस्वरूप बढ़ती महँगाई, बेरोज़गारी और ग़रीबी के ख़िलाफ़ अपने गुस्से का इज़हार करने के लिए इस यात्रा में शामिल हुए थे। इस यात्रा में जनता की ओर से एक हद तक हुई भागीदारी ने निश्चित ही मोदी सरकार को चिन्तित किया था। नतीजतन, हताशा में मोदी सरकार और उसके मन्त्रियों ने राहुल गाँधी पर हर प्रकार के हमले किये, चाहे वे व्यक्तिगत हों, या राजनीतिक हों, या झूठे प्रचार हों। लेकिन इस प्रक्रिया में भाजपा का नेतृत्व ठीक वही कर बैठा जो वह नहीं करना चाहता था। साल-दर-साल उसने हज़ारों करोड़ रुपये इसीलिए ख़र्च किये थे कि एक परिपक्व पूँजीवादी विपक्षी नेता के तौर पर राहुल गाँधी की छवि कभी निर्मित ही न होने दें। कभी 'पप्पू' कहकर, कभी एक अधिकारसम्पन्न राजकुमार की छवि को पेश कर एक ऐसी स्थिति बनाये रखें कि लोग राहुल गाँधी को कभी गम्भीरता से न लें। लेकिन देश में आर्थिक संकट, बेरोज़गारी, महँगाई और फासीवादी मोदी सरकार द्वारा किये गये कुप्रबन्धन और भ्रष्टाचार के कारण ऐसी स्थिति पैदा हो गयी है जिसमें जनता में व्यापक असन्तोष है और उसे फिलहाल अपने सामने इस असन्तोष को अभिव्यक्त करने का जो भी रास्ता दिख रहा है, उसमें वह इसे अभिव्यक्त कर रही है, चाहे वह रास्ता कांग्रेस जैसे किसी पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली पार्टी द्वारा ही मुहैया क्यों न कराया जा रहा हो। इसलिए राहुल गाँधी ने अपने छवि को नये रूप में निर्मित करने में जो आंशिक सफलता हासिल की है, उसमें राहुल गाँधी द्वारा की जा रही मेहनत (जिसे देखकर तमाम उदारपंथियों, उदार वामियों, आदि के गले रुंधे हुए हैं और गाहे-बगाहे सिसकियों की भी आवाज़ें आ रही हैं!) की भूमिका गौण है। दूसरे शब्दों में, 'नये' राहुल गाँधी ने मौजूदा स्थितियों को स्थापित नहीं किया है, बल्कि मौजूदा स्थितियों ने 'नये' राहुल गाँधी को स्थापित किया है।

ज़ाहिरा तौर पर, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक नेताओं की यह कोई बुनियादी राजनीतिक आलोचना नहीं होती कि वे आलसी होते हैं! वास्तव में, आम तौर पर ऐसी कोई बात कही भी नहीं जा सकती है। ये बातें आत्मउद्वेलन के लिए बोली जाती हैं कि सारे पूँजीवादी नेता निखट्टू, नाखादा और निठल्ले हैं! यदि ऐसा होता तो क्रान्ति करना बेहद आसान काम होता और अब तक क्रान्ति हो जानी चाहिए थी! या फिर ऐसे आत्मउद्वेलनवादी "वामपंथियों" को यह मानना पड़ेगा कि वे इन पूँजीवादी नेताओं से भी ज़्यादा निखट्टू, नाखादा और निठल्ले हैं! क्रान्तिकारी मार्क्सवाद पूँजीवाद, पूँजीपति वर्ग और उसकी सत्ता की वैज्ञानिक आलोचना पेश करता है, नैतिक आलोचना नहीं कि वह आलसी या नाकारा है! वैसे भी ऐसा है नहीं! पूँजीपति वर्ग के अलग-अलग राजनीतिक प्रतिनिधि बड़े श्रमसाध्य

(पेज 9 पर जारी)

एक व्यापक फ़ासीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी जनान्दोलन खड़ा करना आज का सबसे अहम कार्यभार है

(पेज 8 से आगे)

तरीके से पूँजीपति वर्ग की सेवा में संलग्न हैं और आपस में उनकी मैनेजिंग कमेटी को चलाने के अवसर के लिए प्रतिस्पर्द्धा भी कर रहे हैं। इसलिए राहुल गाँधी ने यात्रा में 3000 किमी चलकर मेहनत अवश्य की होगी लेकिन हमारे लिए सिर्फ़ यह मेहनत ही समर्थन या विरोध का आधार नहीं हो सकता है। हर ऐसे प्रयास का वर्ग चरित्र होता है। अपने आप में मेहनत करना कोई चीज़ नहीं होती है, जब तक यह न स्पष्ट हो कि मेहनत किसके द्वारा और किसके हितों को ध्यान में रखकर की जा रही है।

राहुल गाँधी देश की जनता के सामने आर्थिक व राजनीतिक कार्यक्रम क्या पेश कर रहे हैं, इसके आधार पर हम मज़दूरों-मेहनतकशों को यह तय करना चाहिए कि उनकी राजनीति का चरित्र क्या है। राहुल गाँधी ने 'भारत जोड़ो यात्रा' के दौरान उदार पूँजीपति वर्ग के चहेते अर्थशास्त्री रघुराम राजन और अभिनेता कमल हसन को साक्षात्कार दिया। इसमें राहुल गाँधी ने स्पष्ट शब्दों में बताया कि वह पूँजीवाद के ख़िलाफ़ नहीं हैं, न ही वह नवउदारवादी नीतियों के ख़िलाफ़ हैं। उनकी राज्य सरकार तो राजस्थान में खुद ही अडानी को ठेके दे रही है। वह बस 'क्रोनी पूँजीवाद' यानी 'भ्रष्ट पक्षपातपूर्ण पूँजीवाद' के ख़िलाफ़ हैं, जिसमें केवल मोदी जी के कुछ दोस्तों को धन्धा करने की ('मज़दूरों के शोषण की' पढ़िये!) आज़ादी और मौके मिलते हैं। समूचे पूँजीपति वर्ग को शोषण करने के बराबर अवसर मुहैया कराये जाने चाहिए! इसी प्रक्रिया में राहुल गाँधी छोटे व मँझोले औद्योगिक व वाणिज्यिक पूँजीपतियों, खेतिहर पूँजीपति वर्ग यानी धनी पूँजीवादी किसान व भूस्वामियों को भी भरोसा दिलाते हैं कि बड़ी पूँजी की मार से उजड़ने के जोखिम से उन्हें राहत दी जायेगी, सब्सिडियाँ दी जायेंगी, कर-छूट व क़र्ज़ा माफ़ी दी जायेगी, लाभकारी मूल्य बढ़ाकर खेतिहर बुर्जुआज़ी को पहले से ज़्यादा बेशी मुनाफ़ा दिया जायेगा, इत्यादि। ज़ाहिर है कि नवउदारवादी नीतियों को लागू करते हुए इन वायदों को आंशिक तौर पर ही कांग्रेस पूरा कर सकती है, यदि वह सरकार बनाती है। राहुल गाँधी ने कहने के लिए तो जनता से भी कई कल्याणकारी नीतियों के वायदे किये, जनवादी अधिकारों व बोलने की आज़ादी को पुनर्स्थापित करने का वायदा किया। लेकिन इन वायदों को नवउदारवादी नीतियों के साथ पूरा करना तो बिल्कुल ही असम्भव है। राहुल गाँधी अपने इन वार्तालापों में स्पष्ट करते हैं कि उन्हें इस बात पर गर्व है कि कांग्रेस पार्टी की सरकार ने ही 1991 में नवउदारवादी नीतियों की शुरुआत की! वह यह भी साफ़ कर देते हैं कि निजीकरण व भूमण्डलीकरण के ज़रिये देशी-विदेशी पूँजी को भारत की मेहनत और कुदरत की लूट की आज़ादी देने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी जायेगी! बस लूट का यह मौका सारे पूँजीपतियों को बराबरी से मुहैया कराया जायेगा, केवल मोदी जी के चन्द दोस्तों को नहीं। राहुल गाँधी के लिए आर्थिक मॉडल कौन-सा देश है? चीन! क्या राहुल गाँधी को मालूम है कि चीन में मज़दूरों पर किस तरह की तानाशाही लागू है? क्या उन्हें मालूम है कि सामाजिक फ़ासीवादी चीनी सत्ता ने आम चीनी जनता को अधिकांश जनवादी अधिकारों से वंचित कर रखा है? क्या उन्हें मालूम में कि चीन दुनिया का मैन्युफैक्चरिंग हब केवल इसीलिए बन सका है क्योंकि वहाँ पर श्रम अधिकार नहीं के बराबर हैं और देशी-विदेशी पूँजी की पुलिसिया तानाशाही स्थापित है? अगर राहुल गाँधी भारत को ऐसा ही बनाना चाहते हैं, तो सत्ता परिवर्तन की ज़हमत उठाने की क्या ज़रूरत है? नरेन्द्र मोदी की साम्प्रदायिक फ़ासीवादी सत्ता ये सारे कुकर्म अपने तरीके से कर ही रही है!

इसलिए यह स्पष्ट है कि जहाँ तक आर्थिक नीतियों का सवाल है, राहुल गाँधी की कांग्रेस या कोई भी पूँजीवादी पार्टी नवउदारवादी नीतियों, यानी निजीकरण, उदारीकरण, भूमण्डलीकरण, श्रम अधिकारों को सीमित करने और "धन्धा करने की सहूलियत" देने की नीतियों पर ही कम या ज़्यादा ज़ोर के साथ अमल करेगी। इसके लिए उसकी सरकार को जितना दमनकारी होना होगा, वह होगी। क्या अतीत में मज़दूरों के दमन में कांग्रेस की तमाम सरकारों या तीसरे मोर्चे की सरकारों ने कोई कमी बरती है? नहीं।

यह सच है कि ग़ैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी पार्टियों व फ़ासीवादी पूँजीवादी पार्टी में फर्क होता है। वह फ़र्क़ आज हमारे सामने किन रूपों में सामने आ सकता है? ज़्यादा से ज़्यादा यह फ़र्क़ हो सकता है कि जिस प्रकार भाजपा के सत्ता में होने पर स्वयं सरकार और उसकी मशीनरी साम्प्रदायिक राजनीति व दंगे की राजनीति में संलग्न है, उस प्रकार किसी अन्य पूँजीवादी पार्टी की सरकार न रहे। यह सम्भव है कि भाजपा सरकार जिस प्रकार जनवादी स्पेस को पूर्णत: समाप्त कर रही है, एक सोशल मीडिया के पोस्ट या टिप्पणी पर पत्रकारों, कलाकारों आदि को जेल हो रही है, बाक़ायदा सज़ायाफ्ता दंगाइयों को जेल से छोड़कर धार्मिक भावनाओं को भड़काया जा रहा है, वह एक हद तक बन्द हो जाये; कुछ दिखावटी कल्याणवाद भी हो सकता है, जैसा कि मनरेगा व सूचना अधिकार के ज़रिये कांग्रेस की अगुवाई वाली संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन सरकार ने 2004 से 2009 के बीच किया था। इससे ज़्यादा अन्तर की उम्मीद मज़दूर वर्ग नहीं कर सकता और न ही उसे करनी चाहिए।

साथ ही, हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि जब भी मज़दूर वर्ग संगठित होकर पूँजीपति वर्ग का विरोध करेगा, कोई हड़ताल करेगा, कोई आन्दोलन करेगा तो आज के दौर में कोई भी पूँजीवादी सरकार बर्बरता से उसका दमन करेगी क्योंकि यह पूँजीपति वर्ग के लिए मन्दी के दौर में विशेष तौर पर आवश्यक होता है। फ़ासीवादी पूँजीवादी सत्ता किसी भी अन्य पूँजीवादी सत्ता के मुक़ाबले इस काम को और भी ज़्यादा कारगर तरीके से करती है और इसीलिए मन्दी के दौर में भाजपा जैसी फ़ासीवादी पार्टी की सरकार और मोदी-शाह जैसे फ़ासीवादी नेतृत्व को सत्ता में पहुँचाना पूँजीपति वर्ग की पहली प्राथमिकता और पसन्द होती है।

बहरहाल, इतना तय है कि इस समय पूरे देश में मोदी सरकार के ख़िलाफ़ एक माहौल तैयार हो रहा है। अडानी-हिण्डनबर्ग प्रकरण के द्वारा मोदी व अडानी के घपले का सामने आना भी भाजपा के लिए गले में फँसी हड्डी बन गया है। भाजपा और मोदी किसी भी तरह से इस मसले से बचकर निकलना चाहते हैं, लेकिन संसद में विपक्ष इस पर उसे बचकर निकलने नहीं देना चाहता। पूँजीवादी संसदीय विपक्ष, विशेष तौर पर, कांग्रेस और राहुल गाँधी उसके ख़िलाफ़ हमलावर रुख़ अपना रहे हैं। निश्चित तौर पर, इसके पीछे पूँजीवादी चुनावी दलों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा है कि भारत के पूँजीपति वर्ग के लिए उसकी सरकार को चलाने का काम कौन-सी पार्टी करेगी। लेकिन फिर भी ऐसे माहौल में मोदी सरकार की दिक्कतें बढ़ रही हैं।

इसी सन्दर्भ में फ़ासीवादी सत्ता की एक महत्वपूर्ण विशिष्टता हमारे सामने लगातार स्पष्टतर रूपों में प्रकट हो रही है: संसदीय पूँजीवादी विपक्ष का भी दमन। कहने की ज़रूरत नहीं है कि इस दमन में और मज़दूरों-मेहनतकशों के बर्बर दमन में काफ़ी अन्तर होता है। यह भी कहने की आवश्यकता नहीं है कि पूँजीवादी जनवाद के बचे-खुचे स्पेस को फ़ासीवादी सत्ता द्वारा ख़त्म किये जाने का जवाब क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग किसी उदारवादी ज़मीन पर खड़े होकर नहीं देगा। मसलन, वह 'संविधान बचाओ' जैसे नारों के साथ पूँजीवादी लोकतन्त्र का महिमामण्डन कर व्यापक मेहनतकश आबादी को गुमराह करने का कुकर्म नहीं करता। उल्टे वह व्यापक मेहनतकश जनता को बतायेगा कि मौजूदा लोकतन्त्र वास्तव में पूँजीपति वर्ग का लोकतन्त्र है और इसमें जैसे-जैसे हम सामाजिक पदानुक्रम में नीचे जाते हैं, वैसे-वैसे व्यापक मेहनतकश जनता के लिए जनवादी अधिकार अधिक से अधिक औपचारिक और काग़ज़ी होते जाते हैं। इसलिए फ़ासीवाद के विरुद्ध हमारे जनसंघर्ष का लक्ष्य किसी उदार व 'अच्छे' पूँजीवादी जनवाद की पुनर्स्थापना नहीं है। फ़ासीवाद के विरुद्ध हमारे क्रान्तिकारी जनसंघर्ष का लक्ष्य उस पूँजीवादी व्यवस्था का ही ध्वंस है, जो अपनी नैसर्गिक गति से संकटग्रस्त होने पर फ़ासीवाद समेत तमाम प्रकार की पूँजीवादी प्रतिक्रिया को जन्म देती है। इसलिए क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग का काम राहुल गाँधी या किसी अन्य पूँजीवादी नेता या पार्टी की पालकी का कहार बनना नहीं है। वैसे भी इतिहास इस बात का गवाह है कि फ़ासीवादी उभार को निर्णायक रूप में शिकस्त देने का काम सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में व्यापक मेहनतकश जनता ही कर सकती है। इसलिए फ़ासीवाद-विरोधी मुहिम में क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग को अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को बनाये रखना चाहिए, यानी किसी भी ग़ैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी पार्टी या गठबन्धन का पिछलग्गू नहीं बनना चाहिए।

साथ ही, पूँजीवादी जनवाद को प्रच्छन्न या खुले तौर पर ख़त्म करने, पूँजीवादी जनवादी अधिकारों को ख़त्म करने, जनवादी स्पेस को ख़त्म करने की फ़ासीवादी सत्ता के हर क़दम का हमें पुरज़ोर तरीके से विरोध करना चाहिए। मिसाल के तौर पर, इसमें कोई दो राय नहीं है कि राहुल गाँधी को सूरत कोर्ट द्वारा दी गयी सज़ा और उसके बाद आनन-फ़ानन में भाजपा सरकार द्वारा उनकी सदस्यता को रद्द किया जाना आम तौर पर पूँजीवादी जनवादी अधिकार पर एक हमला है। क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग को इसका विरोध करना चाहिए। यह अवैध तरीके से हुई कार्रवाई है। सवाल यह है कि जब उदार पूँजीवादी जनवाद की पुनर्स्थापना हमारा लक्ष्य नहीं है, तो फिर हमें राहुल गाँधी की बर्खास्तगी के कदम का विरोध करने की क्या ज़रूरत है? ज़रूरत है। ज़रूरत इसलिए है क्योंकि पूँजीवादी जनवादी अधिकारों पर होने वाले हर हमले की कीमत अन्त में व्यापक मेहनतकश जनता ही चुकाती है, चाहे यह फ़ासीवादी हमला किसी ग़ैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी नेता या पार्टी के जनवादी अधिकारों पर ही क्यों न हुआ हो। इसे यूँ समझिये। क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग यह जानता है और मानता है कि पूँजीवादी चुनावों के रास्ते कभी भी समाजवादी व्यवस्था और मज़दूर सत्ता की स्थापना नहीं हो सकती है। तो क्या इसका यह अर्थ है कि वह पूँजीवादी चुनावों को किसी तानाशाहाना सत्ता द्वारा भंग कर दिये जाने का समर्थन करेगा? नहीं। वह जानता है कि पूँजीवादी व्यवस्था में महज़ अभिव्यक्ति के अधिकार, संगठन बनाने के अधिकार, आदि से ही उसकी राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक समस्याओं का हल नहीं होने वाला है। तो क्या वह इन अधिकारों के भंग कर दिये जाने का समर्थन करेगा? कतई नहीं।

क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षक लेनिन ने बताया था कि जनवाद के लिए सर्वहारा वर्ग ही सबसे क्रान्तिकारी तरीके से लड़ सकता है और इस लड़ाई को लड़कर ही वह समाजवाद के उद्देश्य के लिए भी सुसंगत तरीके से लड़ सकता है। लेनिन ने बताया कि पूँजीवादी जनवाद निश्चित तौर पर अन्तर्वस्तु में पूँजीपति वर्ग की तानाशाही ही होती है और व्यापक मेहनतकश जनता के लिए जनवादी अधिकारों का चरित्र मूलत: और मुख्यत: आंशिक और औपचारिक होता है। लेकिन इसके बावजूद जनवाद सर्वहारा वर्ग के लिए अपने वर्ग संघर्ष को पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध आगे बढ़ाने के लिए सबसे उपजाऊ और उपयुक्त ज़मीन है। इसलिए सर्वहारा वर्ग उस ज़मीन को फ़ासीवादी सत्ता के बरक्स बचाने के लिए भी लड़ता है। जनवाद पर होने वाला हर हमला अन्तत: सर्वहारा वर्ग और व्यापक मेहनतकश जनता के सिर ही गिरता है, चाहे आज उसके निशाने पर राहुल गाँधी, तेजस्वी यादव आदि ही क्यों न नज़र आ रहे हों। इसलिए इस पर एक सही क्रान्तिकारी अवस्थिति अपनाना बेहद ज़रूरी है, अन्यथा "वामपंथी" लफ्फाज़ी के गड्ढे में गिरने से बचा नहीं जा सकता है। इसलिए आज राहुल गाँधी की संसद सदस्यता के रद्द होने का भी विरोध सर्वहारा ज़मीन से किया जाना चाहिए। इसके ठोस निहितार्थ क्या हैं?

इसका अर्थ यह नहीं है कि क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग कांग्रेस की पूँछ में कंघी करने लगे, जैसे कि तमाम उदार वामी और वामी उदार कर रहे हैं और 'भारत जोड़ो यात्रा' और कांग्रेस की रैलियों में जाकर फोटो सेशन कर रहे हैं। तो फिर इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह होगा कि क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग अपनी कतारों को ऐक्यबद्ध करके समूची जनता के बीच बड़े से बड़े पैमाने पर मोदी सरकार द्वारा जनवादी अधिकारों व स्पेस पर किये जा रहे हमले की सच्चाई को सघन और व्यापक अभियान के रूप में पहुँचाये। जनता को यह बताया जाना चाहिए कि जिन मानकों के आधार पर राहुल गाँधी पर कार्रवाई हुई है, उन मानकों पर तो नरेन्द्र मोदी अभी तक जेल में होने चाहिए थे! उनके कुछ कथनों पर ग़ौर करें। शशि थरूर के निजी सम्बन्धों पर टिप्पणी करते हुए मोदी ने "50 करोड़ की गर्लफ्रेण्ड" जैसी घटिया बात कही थी। क्या यह सभी स्त्रियों का अपमान नहीं है? मोदी ने मुसलमानों की तरफ़ इशारा करते हुए कहा था कि "दंगाइयों को उनकी पोशाक से पहचानो"। क्या

(पेज 10 पर जारी)

एक व्यापक फ़ासीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी जनान्दोलन खड़ा करना आज का सबसे अहम कार्यभार है

(पेज 9 से आगे)

यह समूचे अल्पसंख्यक समुदाय का अपमान नहीं है? मोदी ने सोनिया गाँधी को "जर्सी गाय" कहा; क्या यह किसी की मानहानि की श्रेणी में नहीं आता? भाजपा के अन्य नेताओं ने जैसी टिप्पणियाँ कही हैं, उनका ज़िक्र करके हम अपने अख़बार के पन्ने गन्दे नहीं कर सकते। लेकिन आप स्वयं देख सकते हैं कि फ़ासीवादी सत्ता किस तरह से काम कर रही है। इसके अलावा, सीबीआई और आईडी जैसी सरकारी संस्थाओं में संघ की घुसपैठ के बूते जैसे उनका इस्तेमाल राजनीतिक विपक्ष के विरुद्ध किया जा रहा है, वह किसी से छिपा नहीं है। यही सच्चाई व्यापक जनता के सामने उजागर की जानी चाहिए और उसे समझाया जाना चाहिए कि फ़ासीवाद द्वारा जनवादी अधिकारों पर हो रहे इन हमलों का निशाना अन्ततः स्वयं जनता बनेगी। फ़ासीवाद द्वारा जनवाद पर हमले और दमन को हमारी चुप्पी से वैधता प्राप्त होगी और अन्ततः हर जनवादी अधिकार के हनन की क़ीमत मेहनतकश जनता ही चुकायेगी, आज चाहे उसके निशाने पर कोई भी दिख रहा हो।

इक्कीसवीं सदी के फ़ासीवाद की एक ख़ासियत यह है कि वह हिटलर व मुसोलिनी के समान आपवादिक कानून लाकर संसद व चुनावों को भंग नहीं करता। लेकिन औपचारिक तौर पर संसद, चुनावों, आदि को बनाये रखते हुए भी फ़ासीवादी शक्तियाँ सत्ता में होने पर इनकी अन्तर्वस्तु को धीरे-धीरे समाप्त कर देती हैं। नतीजे के तौर पर पूँजीवादी जनवाद का खोल बचा रह जाता है, लेकिन अन्तर्वस्तु विसर्जित हो जाती है। आज मोदी-शाह की फ़ासीवादी सत्ता यही कर रही है। नतीजतन, एक अघोषित आपातकाल की स्थिति है, पूँजीवादी संसदीय विपक्ष को भी पूर्णतः बेकार बना दिये जाने की कोशिशें की जा रही हैं, पूँजीवादी जनवादी राज्यसत्ता की तमाम संस्थाओं व प्रक्रियाओं को बरबाद किया जा रहा है। पूँजीवादी जनवादी अधिकारों को बचाना या पूँजीवादी जनवाद के किसी काल्पनिक शुद्ध रूप की स्थापना करना अपने आप में सर्वहारा वर्ग का उद्देश्य नहीं है। लेकिन जनवादी अधिकारों पर होने वाले हर हमले की मुख़ालफ़त करना उसके लिए इसलिए ज़रूरी है क्योंकि वह उसे अपने वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए सबसे उपयुक्त ज़मीन देता है। वैसे भी पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के मौजूदा अभूतपूर्व रूप से पतनशील दौर में पूँजीवादी जनवाद पहले से ही जर्जर अवस्था में है। इसलिए भी फ़ासीवादी उभार के लिए उसकी अन्तर्वस्तु को नष्ट करना और उसके खोल को बनाये रखना पहले से कहीं ज़्यादा आसान है।

सर्वहारा वर्ग किसी भी रूप में और किसी के भी ख़िलाफ़ उठाये जाने वाले फ़ासीवादी कदम के ज़रिये जनवादी अधिकारों व स्पेस पर होने वाले हमलों का विरोध अपनी स्वतन्त्र राजनीतिक ज़मीन से करेगा। वह उसका विरोध इसलिए करेगा क्योंकि वह जानता है कि जनवाद के हर ह्रास, उस पर होने वाले हर हमले की कीमत अन्ततः सर्वहारा वर्ग ही चुकाता है और अगर वह चुप रहा तब वह इस कीमत को और भारी तरीके से चुकाता है। वह इसका विरोध करते हुए इस या उस पूँजीवादी दल की पूँछ नहीं पकड़ेगा। बल्कि वह अपनी स्वतन्त्र राजनीतिक कार्रवाइयों, अभियानों व आन्दोलनों के ज़रिये इन हमलों की सच्चाई के बारे में व्यापक जनसमुदायों में प्रचार करेगा और उन्हें बतायेगा कि फ़ासीवादियों की असलियत क्या है, उनका असली चाल-चेहरा-चरित्र क्या है। वह जनता के चेतना का स्तरोन्नयन करते हुए उन्हें हर जनवादी अधिकारों की हिफ़ाज़त के लिए अपने जुझारू जनान्दोलनों के ज़रिये लड़ने हेतु जागृत, गोलबन्द और संगठित करेगा। इसी प्रक्रिया में वह उन्हें इस सच्चाई से भी अवगत करायेगा कि कांग्रेस, सपा, राजद, जद (यू), तृणमूल, द्रमुक, आदि कोई भी पूँजीवादी दल फ़ासीवादी उभार का विकल्प नहीं बन सकता है। वास्तव में, फ़ासीवाद के उभार के लिए ये तमाम पूँजीवादी राजनीतिक दल और, सत्ता में होने पर, उनकी आर्थिक नीतियाँ ही ज़िम्मेदार हैं और पूँजीवादी दल होने के नाते उनसे और कोई उम्मीद की भी नहीं जा सकती थी।

संक्षेप में कहें तो हमारा यह क्रान्तिकारी कर्तव्य है और हमारे संघर्ष के भविष्य के उज्ज्वल होने की शर्त है कि हम जनवादी अधिकारों पर होने वाले हर फ़ासीवादी हमले का पुरज़ोर विरोध करें, चाहें वे ईमानदार व जनपक्षधर पत्रकारों के ख़िलाफ़ हो, कलाकारों-साहित्यकारों के ख़िलाफ़ हो, ट्रेडयूनियनकर्मियों के ख़िलाफ़ हो, अल्पसंख्यकों के ख़िलाफ़ हो, दलितों व स्त्रियों के ख़िलाफ़ हो, या फिर वह ग़ैर-फ़ासीवादी पूँजीवादी चुनावी दलों व नेताओं के ख़िलाफ़ ही क्यों न हो। वजह यह कि जनवाद पर होने वाला हर हमला अन्ततः और दूरगामी तौर पर सर्वहारा वर्ग के हितों के विपरीत जाता है और सर्वहारा वर्ग व आम मेहनतकश जनता ही उसकी सबसे ज़्यादा क़ीमत चुकाती है। जब भी हम जनवाद पर होने वाले फ़ासीवादी हमले पर चुप रहते हैं तो हम फ़ासीवादी सत्ता के "दमन के अधिकार" का आम तौर पर वैधता प्रदान कर रहे होते हैं, चाहे हमारा ऐसा इरादा हो या न हो। इसलिए राहुल गाँधी की सदस्यता रद्द होने का प्रश्न हो या फिर जनपक्षधर पत्रकारों, जाति-उन्मूलन कार्यकर्ताओं, कलाकारों-साहित्यकारों के फ़ासीवादी मोदी-शाह सत्ता द्वारा उत्पीड़न का प्रश्न हो, सर्वहारा वर्ग को उसका पुरज़ोर तरीके से विरोध करना चाहिए। लेनिन ने बताया था कि जनवादी अधिकारों पर होने वाले हर हमले का विरोध किये बग़ैर, शोषक-शासक वर्गों व उनकी सत्ता द्वारा दमन-उत्पीड़न की हर घटना पर आवाज़ उठाये बग़ैर, और हर जगह दमित व शोषित लोगों के साथ खड़े हुए बग़ैर, सर्वहारा वर्ग समूची मेहनतकश जनता की अगुवाई करने और उसका हिरावल बनने की क्षमता अर्जित नहीं कर सकता है।

भाजपा और संघ परिवार के गाय-प्रेम और गोरक्षा के बारे में सोचने के लिए कुछ सवाल

(पेज 7 से आगे)

बस उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र और कर्नाटक की गाय पवित्र है! कैसी मूर्खतापूर्ण बात होगी यह, ज़रा खुद सोचिए।

वास्तव में, सच्चाई कुछ और है। पवित्र गाय का मिथक रचने के पीछे की साज़िश कुछ और है। इसलिए, दोस्तो, इस बात को समझिए। थोड़ा दिमाग़ लगाइए। थोड़ा तर्क का इस्तेमाल करिए। यह पवित्र पशु का मिथक आपको ठगने, बेवकूफ़ बनाने और धर्म के नाम पर आपस में लड़वाने के लिए रचा गया है। भाजपा खुद इस मिथक की सच्चाई को जानती है। उनके केरल व उत्तर-पूर्व के नेताओं के बयान इस बात को साबित करते हैं। जब वे गोरक्षा के इस फर्जी मसले पर हमें लड़वा लेते हैं, तो अपने होली मिलन समारोहों और इफ़तार पार्टियों में हमारी मूर्खता पर ठहाके मारकर हँसते हैं। इसलिए मूर्ख बनना बन्द कर दीजिए और गोरक्षा के फ़र्ज़ी मसले और पवित्र पशु के मिथक की सच्चाई को जान और समझ लीजिए। **क्या ग़रीबी, महँगाई, बेरोज़गारी, भुखमरी और अशिक्षा से हम पहले ही कम परेशान हैं कि ऐसे फर्जी मसलों पर एक-दूसरे के सिर फोड़ें? ज़रा सोचिए।**

मेहनतकश वर्ग का इस पर नज़रिया यह होना चाहिए कि क्या खाना है, क्या पहनना है, कौन-सा धर्म मानना है या कोई धर्म नहीं मानना, कौन-सी पूजा पद्धति माननी है या कोई पूजा पद्धति नहीं माननी, यह पूरी तरह एक नागरिक का व्यक्तिगत मसला है। इसमें किसी भी दूसरे नागरिक को हस्तक्षेप करने, या स्वयं राज्य व सरकार को दख़ल देने का कोई अधिकार नहीं है। आप देखेंगे कि हम जैसे ही इस उसूल को अपनायेंगे वैसे ही भाजपा व संघ परिवार द्वारा फैलायी जा रही फ़िरकापरस्ती भी कारगर नहीं हो पायेगी और हम अपने असली मुद्दों को लेकर एकजुट हो पायेंगे। 1960 के दशक के पहले गोरक्षा के नाम पर साम्प्रदायिक राजनीति की तमाम कोशिशें कामयाब नहीं हो पायीं थीं। उसके पहले लोगों ने इस फ़र्ज़ी मुद्दे के नाम पर आपस में सिर-फुटौव्वल करने से इन्कार कर दिया था। वास्तव में, गोरक्षा की बात भी पहली बार आधुनिक काल में किसी हिन्दू धार्मिक संगठन ने नहीं की थी बल्कि 1800 की सदी के उत्तरार्द्ध में सिख धर्म के कूका समुदाय के लोगों ने की थी क्योंकि खेती के लिए ढोर-डंगर की आवश्यकता होती थी। बाद में आर्य समाज के स्वामी दयानन्द इसे ले उड़े और इसके आधार पर साम्प्रदायिक राजनीति करने की कोशिश की। लेकिन 1960 के दशक के अन्त तक यह राजनीति कभी कामयाब नहीं हो पायी। **जब जनता के जीवन की असुरक्षा और अनिश्चितता बढ़ती है, तो ही लोग ऐसे ग़ैर-मुद्दों पर लड़ने को तैयार किये जा सकते हैं।**

1980 के दशक में निजीकरण, उदारीकरण की प्रच्छन्न शुरुआत और 1991 में उसकी खुली शुरुआत के साथ व्यापक मध्यवर्गीय, निम्न मध्यवर्गीय टुटपुंजिया आबादी में उजड़ने और बरबाद होने की रफ़्तार बढ़ी। बड़ी पूँजी से उजाड़े जा रहे टुटपुँजिया लोग भी असुरक्षा और अनिश्चितता के शिकार थे और दूसरी तरफ छोटे पूँजीपतियों का एक वर्ग था जो अब सरकारी लाईसेंस-कोटा के ज़रिए विनियमन से आज़ादी चाहता था, श्रम क़ानूनों से आज़ादी चाहता था और "धन्धा करने की सहूलियत" चाहता था। इन दोनों आबादियों को संघ परिवार ने मन्दिर राजनीति व गोरक्षा राजनीति के ज़रिए लुभाया क्योंकि उनके जीवन के हालात अलग-अलग रूपों में एक अन्धी प्रतिक्रिया को जन्म दे रहे थे, उन्हें बस मुसलमानों के रूप में एक नकली दुश्मन मुहैया कराने की ज़रूरत थी, ताकि उन्हें दंगाई भीड़ में तब्दील किया जा सके। यही काम पहले भारतीय जनसंघ और फिर भाजपा ने किया।

और आज जब जनता मोदी-शाह की फ़ासीवादी सत्ता की जनविरोधी और पूँजीपरस्त नीतियों के कारण बेरोज़गारी, ग़रीबी, भुखमरी, महँगाई, बेघरी और पहुँच से दूर होती शिक्षा और चिकित्सा से तंगहाल है तो फिर से इन फ़र्ज़ी मसलों को हवा दी जा रही है, दंगाई राजनीति की आग में घी डाला जा रहा है, ताकि हम और आप अपने असली दुश्मन, यानी पूँजीवादी व्यवस्था, पूँजीपति वर्ग और आज उसकी प्रमुख तौर पर नुमाइन्दगी कर रहे संघी फ़ासीवाद और मोदी-शाह सत्ता को निशाना बनाने की बजाय, आपस में ही लड़ मरें। **अगर हम इस साज़िश के फिर से शिकार होते हैं, तो हमसे बड़ा मूर्ख कोई नहीं होगा।**

इसलिए अगर आपके दरवाज़े कोई गोरक्षा, लव जिहाद, 'चीन का ख़तरा', 'पाकिस्तान का ख़तरा' जैसे फ़र्ज़ी मसले लेकर आता है तो उसे उचित रूप में "खर्चा-पानी" देकर दफ़ा करें। हमारा दुश्मन हमारे देश के भीतर है। जब हम कम मज़दूरी के ख़िलाफ़ लड़ते हैं तो हमें दबाने के लिए पूँजीपति और फासीवादी सरकार की पुलिस और गुण्डे आते हैं; जब हम बेहतर कार्यस्थितियों की माँग करते हैं, तो हमें मौजूदा व्यवस्था और सरकार दबाती है; जब हम समानता और इज़्ज़त से भरी ज़िन्दगी माँगते हैं तो हमें कुचलने के लिए मालिक, ठेकेदार, जॉबर, व्यापारी, धनी फ़ार्मर व ज़मीन्दार आ जाते हैं। **तो हम किसी चीनी या पाकिस्तानी नकली दुश्मन से लड़ने को क्यों बावले हों? चीन और पाकिस्तान के मज़दूर-मेहनतकश भी अपने हुक्मरानों से उसी क़दर तंग हैं, जिस क़दर हम यहाँ के फ़ासीवादी शासकों से तंग हैं। वे तो हमारे भाई-बहन हैं। उनसे हमारी भला क्या दुश्मनी? क्या वे हमें यहाँ दबाने और लूटने आते हैं? कौन हमें यहाँ दबा और लूट रहा है? कौन हमें गोरक्षा और लव-जिहाद जैसे फ़र्ज़ी मसलों पर लड़ा रहा है ताकि हम टूट जायें और कमज़ोर रहें?**

इन सवालों पर सोचिए दोस्तो। वरना हम यूँ ही मूर्ख बनकर अपने ही भाइयों-बहनों का ख़ून बहाते रहेंगे, जबकि हमारे ख़ून और आँसुओं के समन्दर में हर मज़हब और जाति के लुटेरों, शोषकों और शासकों की ऐय्याशी की मीनारें खड़ी होती रहेंगी।

मज़दूर आन्दोलन में मौजूद किन प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ मज़दूर वर्ग का लड़ना ज़रूरी है?

1.क्रान्तिकारी सर्वहारा को अर्थवाद के विरुद्ध निर्मम संघर्ष चलाना होगा!

(तीसरी क़िस्त)

शिवानी

'मज़दूर बिगुल' के पिछले दो अंकों में हमने अर्थवाद की प्रवृत्ति से जुड़े कई पहलुओं पर चर्चा की। किस प्रकार यह प्रवृत्ति मज़दूर आन्दोलन के लिए हानिकारक है, आन्दोलन को भीतर से दीमक की तरह खा जाती है और वास्तव में बुर्जुआ विचारधारा की नुमाइन्दगी करती है, इस पर भी हमने विस्तारपूर्वक कुछ ज़रूरी बातें रखीं। हमने यह भी देखा कि मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक लेनिन ने अर्थवाद की बुर्जुआ विचारधारा के विरुद्ध समझौताविहीन संघर्ष चलाकर मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी दर्शन को समृद्ध किया और क्रान्तिकारी आन्दोलन में व्यवहार के पथ को अवलोकित किया। राजनीति और सचेतनता के तत्व को नकारने या कम करके आँकने वालों, जिनमें कि अर्थवादी प्रमुख थे, के विषय में लेनिन का स्पष्ट मत था कि ऐसे तमाम लोग मज़दूर आन्दोलन के भीतर दरअसल बुर्जुआ विचारधारा के पक्ष को ही मज़बूत कर रहे होते हैं। इस विषय पर भी हमने पिछले अंक में उद्धरणों के साथ लेनिन के विचार प्रस्तुत किये थे।

'क्या करें?' में लेनिन स्वतःस्फूर्तता के पूजकों की आलोचना के बाद **ट्रेड-यूनियन चेतना/राजनीति और सामाजिक-जनवादी/कम्युनिस्ट चेतना/राजनीति** के बीच के फ़र्क को रेखांकित करते हैं जो दरअसल अर्थवाद और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के बीच के अन्तर को ही दिखलाता है। यह फ़र्क समझना हम सभी के लिए आवश्यक है ताकि आन्दोलन के भीतर मौजूद हर प्रकार की वैचारिक धुन्ध को साफ़ किया जा सके। यह ट्रेड-यूनियन के विशिष्ट कार्यभारों और पार्टी की विशिष्ट भूमिका को समझने के लिए भी अनिवार्य है। अपनी कृति **'क्या करें?'** में लेनिन एक जगह कहते हैं कि "क्रान्तिकारी सिद्धान्त के बिना क्रान्तिकारी आन्दोलन असम्भव है", और फिर अन्यत्र यह भी कहते हैं कि सामाजिक-जनवादी चेतना या "वर्ग राजनीतिक चेतना" अपने आप स्वतःस्फूर्त तरीक़े से पैदा नहीं हो जाती है बल्कि मज़दूर वर्ग के पास "बाहर से" आती है, जिसकी चर्चा हमने पिछले अंक में भी की थी। ये दोनों ही लेनिनवादी अवधारणाएँ दरअसल **वर्ग और हिरावल के बीच के सम्बन्ध** को ही दर्शाती हैं। देखें लेनिन क्या कहते हैं:

"सभी देशों का इतिहास यह बताता है कि मज़दूर वर्ग मात्र अपने प्रयत्नों से केवल ट्रेड-यूनियन चेतना पैदा करने में सफल होता है, यानी कि यह धारणा पैदा कर पाता है कि यूनियनों के रूप में अपना संगठन बनाना, मालिकों से लड़ना और आवश्यक श्रम-कानून बनवाने के लिए सरकार पर दबाव डालना ज़रूरी है, इत्यादि। *लेकिन समाजवाद का सिद्धान्त उन दार्शनिक, ऐतिहासिक एवं आर्थिक सिद्धान्तों से उत्पन्न हुआ है, जिनका सम्पत्तिवान वर्गों के शिक्षित प्रतिनिधियों, बुद्धिजीवियों ने प्रतिपादन किया था।* आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद के संस्थापक, स्वयं मार्क्स और एंगेल्स, अपनी सामाजिक हैसियत की दृष्टि से, बुर्जुआ बुद्धिजीवी लोग थे। इसी प्रकार रूस में सामाजिक-जनवाद की सैद्धान्तिक शिक्षा का जन्म मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के स्वतःस्फूर्त विकास से बिलकुल स्वतन्त्र ढंग से हुआ है, उसका जन्म क्रान्तिकारी-समाजवादी बुद्धिजीवियों में विचारों के विकास के स्वाभाविक और अवश्यम्भावी परिणाम के रूप में हुआ।"

हालाँकि लेनिन के उपरोक्त उद्धरण का मतलब यह नहीं है कि पार्टी के बुद्धिजीवी जन संघर्षों से कटे हुए किसी टापू पर अलग-थलग रहकर क्रान्तिकारी सिद्धान्त-प्रतिपादन करते हैं! सर्वहारा चेतना राजनीतिक संघर्षों और राजनीतिक प्रचार से ही सचेतन तौर पर पार्टी द्वारा निसृत की जाती है। जनसमुदायों से सीखे बग़ैर जनसमुदायों को सिखाया भी नहीं जा सकता है। जब यह कार्य सामाजिक रूप से मज़दूर वर्ग से आने वाला कोई क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी भी करता है, तो वह मुख्यत: सामाजिक वर्ग के रूप में नहीं बल्कि राजनीतिक वर्ग के रूप में सर्वहारा वर्ग की भूमिका निभा रहा होता है, जो किसी स्वत:स्फूर्त प्रक्रिया को नहीं प्रदर्शित करता है, बल्कि एक सचेतन राजनीतिक व विचारधारात्मक प्रक्रिया को चिन्हित करता है। मार्क्स-एंगेल्स से लेकर लेनिन तक सर्वहारा वर्ग के शिक्षक कोई ठलुआ बुद्धिजीवी नहीं थे जो जनसमुदायों के संघर्षों से कटकर सिद्धान्त बघार रहे थे, वे तमाम क्रान्तिकारी संघर्षों में प्रत्यक्ष सक्रिय भागीदार थे और यही कारण था कि उनकी राजनीतिक प्रतिबद्धता सर्वहारा वर्ग के साथ थी भले ही उनका सामाजिक वर्ग कुछ भी रहा हो।

बहरहाल, लेनिन **'क्या करें?'** में ही बताते हैं अर्थवादियों की स्वतःस्फूर्ततावाद के प्रति अन्धभक्ति सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के राजनीतिक कार्यभारों तथा सांगठनिक काम के क्षेत्र में विभिन्न रूपों में प्रकट हुई। लेनिन स्पष्ट करते हैं कि ऐसा नहीं है कि अर्थवादी लोग "राजनीति" को पूरी तरह से त्याग देते हैं या ख़ारिज कर देते हैं, बल्कि वे हमेशा राजनीति की सामाजिक-जनवादी/कम्युनिस्ट समझदारी से ट्रेड-यूनियनवादी समझदारी की ओर भटकते रहते हैं। लेनिन रूस के मज़दूर आन्दोलन के मार्फ़त बताते हैं कि अर्थवादियों द्वारा किस प्रकार राजनीतिक उद्वेलन की कार्यवाईयों को संकुचित करने का काम किया गया। रूसी मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष में व्यापक फैलाव और मज़बूती आर्थिक (कारख़ानों से सम्बद्ध और पेशागत) स्थितियों का भण्डाफोड़ करने वाले साहित्य की रचना के साथ आयी। लेनिन बताते हैं कि चूँकि अलग-अलग उद्योगों और अलग-अलग पेशों के मज़दूरों की कार्यस्थितियाँ, जीवनस्थितियाँ व समस्याएँ मोटे तौर पर एक समान ही थीं, इसलिए "मज़दूरों की ज़िन्दगी के बारे में सच्चाई" सभी मज़दूरों को ही आन्दोलित करती थी। इस प्रकार आर्थिक (कारखानों के हालात का) भण्डाफोड़ करने वाले पर्चे आर्थिक संघर्ष का एक बड़ा व अहम साधन थे और आज भी हैं। और लेनिन के ही शब्दों में "जब तक पूँजीवाद मौजूद है, जो मज़दूरों को अपनी हिफ़ाज़त के वास्ते लड़ने के लिए मज़बूर करता है, जब तक उनका यह महत्व बना रहेगा।" लेकिन लेनिन कहते हैं यही भण्डाफोड़ की कारवाही समस्त मज़दूर आन्दोलन का फ़लक नहीं होती है और ऐसे सामाजिक-जनवादियों की आलोचना करते हैं जो कारखानों के हालात का भण्डाफोड़ करने के काम को संगठित करने में ही पूरी तरह डूबे हुए थे। देखें लेनिन का निम्न उद्धरण कितनी स्पष्टता और बारीक़ी से **सामाजिक-जनवादी राजनीति और ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति के बीच फ़र्क** स्थापित करता है:

"यहाँ तक कि वे इस बात को भी भूल गए कि यह काम अभी तक *ख़ुद अपने आप में*, अपने सारतत्व कि दृष्टि से, सामाजिक-जनवादी काम नहीं, बल्कि ट्रेड-यूनियनवादी काम है। सच्चाई यह है कि इन भण्डाफोड़ों में महज़ किसी *ख़ास पेशे* के मज़दूरों तथा मालिकों के सम्बन्धों की चर्चा रहती थी और उनका केवल यह परिणाम निकलता था कि अपनी श्रम-शक्ति को बेचनेवाले अपना "माल" ज़्यादा बेहतर दामों पर बेचना और एक शुद्ध व्यापारिक सौदे को लेकर ख़रीदारों से लड़ना-झगड़ना सीखते थे। इन भण्डाफोड़ों से (यदि क्रान्तिकारियों का संगठन उनका सही उपयोग करता तो) सामाजिक-जनवादी कार्य की शुरुआत की जा सकती थी और वे इस काम का एक अंग बन सकते थे। परन्तु उनके फलस्वरूप "शुद्ध ट्रेड-यूनियन" संघर्ष और ग़ैर सामाजिक-जनवादी मज़दूर आन्दोलन भी खड़ा हो सकता था (और स्वतःस्फूर्तता की पूजा करने की हालत में यह नतीजा निकलना लाज़िमी भी था)। **सामाजिक-जनवाद केवल श्रम-शक्ति की बिक्री के वास्ते बेहतर दाम हासिल करने के लिए ही नहीं, बल्कि उस सामाजिक व्यवस्था को मिटाने के लिए मज़दूर वर्ग के संघर्ष का नेतृत्व करता है जो सम्पत्तिहीन लोगों को धनिकों के हाथ बिकने के लिए मजबूर करती है।** सामाजिक-जनवाद मज़दूर वर्ग का प्रतिनिधित्व केवल मालिकों के किसी एक धड़े विशेष के सम्बन्ध के मामले में ही नहीं, बल्कि आधुनिक समाज के सभी वर्गों के साथ और एक संगठित राजनीतिक शक्ति के रूप में राज्यसत्ता के साथ उसके सम्बन्ध के मामले में भी करता है। *यहाँ यह स्पष्ट है कि सामाजिक-जनवादी केवल आर्थिक संघर्षों तक ही ख़ुद को सीमित नहीं रख सकते, वे तो आर्थिक भण्डाफोड़ों को संगठित करने के काम को अपनी गतिविधियों का प्रमुख अंग बनने की इजाज़त भी नहीं दे सकते। हमें मज़दूर वर्ग को राजनीतिक शिक्षा देने और उसकी राजनीतिक चेतना को विकसित करने के काम को बहुत सक्रिय रूप से हाथ में लेना होगा।"*

इसके बाद लेनिन मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक शिक्षा और राजनीतिक चेतना को विकसित करने के काम की अपरिहार्यता को रेखांकित करते हैं जो कि सामाजिक-जनवादी राजनीति को शुद्ध ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति से अलग करता है। लेनिन यह भी स्पष्ट करते हैं कि राजनीतिक शिक्षा का मतलब मज़दूरों द्वारा महज़ अपने राजनीतिक उत्पीड़न को समझना मात्र नहीं है, वैसे ही जैसे मज़दूरों के लिए यह समझना काफ़ी नहीं है कि उनके हित और मालिकों के हित में परस्पर विरोध है। ज़रूरत इस बात की है कि इस उत्पीड़न की प्रत्येक ठोस मिसाल को लेकर उद्वेलन किया जाए क्योंकि यह उत्पीड़न समाज के विभिन्न वर्गों पर असर डालता है और जीवन तथा गतिविधियों के पेशागत, नागरिक, वैयक्तिक, पारिवारिक, धार्मिक, वैज्ञानिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में प्रकट होता है, इसलिए, लेनिन के अनुसार, मज़दूरों की राजनीतिक चेतना को विकसित करने के लिए सर्वांगीण राजनीतिक भण्डाफोड़ संगठित करने की आवश्यकता है। लेनिन *'राबोचाया द्येलो'* के अर्थवादियों को आड़े हाथों लेते हैं जो शब्दों में तो राजनीतिक उद्वेलन और संघर्ष की अनिवार्यता पर अपनी "सहमति" जताते हैं लेकिन व्यवहार में ठीक इसका उल्टा करते हैं।

लेनिन अर्थवादियों की इस समझदारी की आलोचना भी प्रस्तुत करते हैं जो कहती थी कि आर्थिक संघर्ष ही जनता को राजनीतिक संघर्ष में खींचने का वह तरीक़ा है जिसका सबसे अधिक व्यापक ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता है। **लेनिन के अनुसार यह राजनीतिक आन्दोलन को आर्थिक आन्दोलन के पीछे घिसटने की अर्थवादी नसीहत है।** ज़ोर-ज़ुल्म और निरंकुशता की हर अभिव्यक्ति जनता को आन्दोलन में खींचने के लिए रत्ती भर भी कम व्यापक उपयोगयोग्य तरीक़ा नहीं है। इसपर सही अवस्थिति यह कि आर्थिक संघर्षों को भी अधिक से अधिक व्यापक आधार पर चलाना चाहिए और उनका इस्तेमाल हमेशा और शुरुआत से ही राजनीतिक उद्वेलन के लिए किया जाना चाहिए। इसके विपरीत कोई भी समझदारी दरअसल राजनीति को अर्थवादी ट्रेड-यूनियनवादी जामा पहनाने जैसा है।

अर्थवाद के प्रमुख सिद्धान्तकार और बाद में मेन्शेविकों के नेता मार्तिनोव की "आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देने" की अर्थवादी प्रस्थापना की भी लेनिन **'क्या करें?'** में धज्जियाँ उड़ाते हैं। लेनिन कहते हैं कि यह आडम्बरपूर्ण वाक्यांश जो सुनने में "बेहद गंभीर और क्रान्तिकारी" मालूम पड़ता है "वास्तव में सामजिक-जनवादी राजनीति को गिराकर ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति के स्तर पर ले जाने की परम्परागत कोशिश को छिपाने के लिए आड़ का ही काम करता है!" लेनिन बताते हैं कि आर्थिक संघर्ष कुछ और नहीं बल्कि अपनी श्रम-शक्ति की बिक्री में बेहतर दाम पाने के लिए, जीवन तथा कार्य की स्थितियाँ सुधारने के लिए अपने मालिकों के ख़िलाफ़ मज़दूरों का सामूहिक संघर्ष होता है। यह संघर्ष आवश्यक रूप से पेशागत संघर्ष होता है क्योंकि अलग-अलग पेशों (trade) में कार्यस्थितियाँ अलग-अलग होती हैं और इसलिए इन स्थितियों को सुधारने की लड़ाई हरेक पेशे में उस पेशे के संगठनों यानी कि ट्रेड यूनियन द्वारा ही संगठित की जा सकती है। और मज़दूरों की तमाम ट्रेड यूनियनें ठीक यही करती हैं और हमेशा से यही करती आई हैं। इसलिए लेनिन कहते हैं कि मार्तिनोव का "आर्थिक संघर्ष को राजनीतिक रूप देने" का यह दावा ऐसे प्रस्तुत किया जा रहा है जैसे कि वह कोई बिलकुल नयी चीज़ हो जबकि इसका मतलब केवल यह है कि वैधानिक व प्रशासनिक उपायों के ज़रिये अलग-अलग पेशे के मज़दूरों द्वारा अपनी माँगों को पूरा करवाने और कार्यस्थितियों को सुधारने के लिए किया जाने वाला संघर्ष जोकि कोई नयी बात नहीं है और ट्रेड यूनियनें यही काम करती रही हैं। इस बड़बोले दावे का मतलब आर्थिक सुधारों के लिए संघर्ष के सिवा और कुछ नहीं है। तो फिर सामाजिक-जनवादी/कम्युनिस्ट क्या करते हैं? क्या वे सुधारों के लिए नहीं लड़ते? लेनिन इसका बेहद सटीक जवाब देते हैं। लेनिन लिखते हैं:

"सुधारों के लिए लड़ना क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद की गतिविधियों में हमेशा शामिल रहा है और आज भी शामिल है। लेकिन वह "आर्थिक" उद्वेलन का इस्तेमाल सरकार के सम्मुख विभिन्न मांगों पर तरह-तरह के क़दम उठाने के लिए ही नहीं करते बल्कि यह मांग भी (और मुख्यतया यही मांग) पेश करने के लिए करता है कि सरकार निरंकुश शासन करना छोड़ दे। इसके अलावा वह इसे अपना कर्तव्य समझता है कि यह मांग केवल आर्थिक संघर्ष के आधार पर ही नहीं, बल्कि सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन की आम तौर पर सभी अभिव्यक्तियों के आधार पर भी सरकार के सामने पेश की जाए। **सारांश यह कि क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद सुधारों के लिए संघर्ष को स्वतंत्रता और समाजवाद के क्रान्तिकारी संघर्ष के अधीन उसी तरह रखता है, जैसे कोई एक भाग अपने पूर्ण के अधीन होता है।** लेकिन मार्तिनोव मंज़िलों वाले सिद्धान्त को (यानी आर्थिक संघर्ष ही एक उच्चतर मंज़िल में राजनीतिक संघर्ष में तब्दील हो जाते हैं – *लेखिका*) एक नए रूप में फिर से जीवित करके राजनीतिक संघर्ष के विकास के लिए मानो एक शुद्ध आर्थिक पथ निर्धारित करने की कोशिश कर रहे हैं। इस समय जब क्रान्तिकारी आन्दोलन

(पेज 12 पर जारी)

मज़दूर वर्ग की पार्टी कैसी हो

(चौथी किश्त)

सनी

इस लेख श्रृंखला की तीन किस्तों में हमने मज़दूर पार्टी के क्रान्तिकारी प्रचार के स्वरूप पर बात की थी। लेनिन ने रूस में कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं के समक्ष 'कहाँ से शुरूआत करें' लेख में निम्न क्रम में बात रखने की योजना बनायी थी: क्रान्तिकारी प्रचार पर, सांगठनिक कार्यभार, अखिल रूसी क्रान्तिकारी पार्टी बनाने की योजना। इस लेख का स्वरूप भी लेनिन की इस योजना की रोशनी में हमने तय किया है। क्रान्तिकारी प्रचार की समस्याओं पर चर्चा करने के बाद हम मज़दूर पार्टी के सांगठनिक स्वरूप पर चर्चा करेंगे। हम पहले इतिहास के ज़रिए यह समझने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार पार्टी की अवधारणा जन्मी और किस तरह लेनिन ने पार्टी की अवधारणा को विकसित किया।

हम इतिहास में पीछे मुड़कर देखें तो मार्क्स और एंगेल्स के नेतृत्व में बनी मज़दूर वर्ग की पार्टी के ढाँचे का पहला प्रारूप कम्युनिस्ट लीग के रूप में सामने आया। यूरोप में क्रान्तिकारी उभार के दौर में हिरावल वर्ग और उसके संगठन को बेशकीमती अनुभव प्राप्त हुए। 'लीग ऑफ जस्ट' से 'कम्युनिस्ट लीग' बनना वह पहला क़दम था जब सर्वहारा वर्ग के हिरावल दस्ते को कम्युनिस्ट सांगठनिक रूप मिला। बाद में मार्क्स व एंगेल्स ने प्रथम इण्टरनेशनल की स्थापना की, जो अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सर्वहारा वर्ग का संगठन था। 1860 के दशक में मज़दूर आन्दोलन के एक बार फिर तीव्र होने पर यह संगठन एक राजनीतिक नेतृत्व, तालमेल केन्द्र तथा परामर्शदाता के रूप में काम कर रहा था। मार्क्स के बाद एंगेल्स के नेतृत्व में ही आठवें और नौवें दशक में यूरोप में कम्युनिस्ट पार्टियाँ खड़ी होने लगी थीं। कम्युनिस्ट पार्टी का ढाँचा कोई पहले से बना-बनाया सिद्धान्त नहीं था बल्कि यह पूँजीवादी राज्यसत्ता के बदलते स्वरूप के साथ विकसित हुआ।

इस पर साथी अभिनव लिखते हैं कि: ''मार्क्स और एंगेल्स के काल में बुर्जुआ राज्यसत्ता का पूरा ढाँचा उस कदर व्यापक, व्यवस्थित और सुदृढ़ीकृत नहीं हुआ था, जिस कदर वह लेनिन के काल में हो चुका था। एंगेल्स के जीवनकाल के उत्तरार्द्ध में ऐसी कम्युनिस्ट पार्टियाँ बनने लगी थीं, जो अगर बोल्शेविक पार्टी जैसी नहीं थीं तो जन पार्टी जैसी भी नहीं थीं। लेनिन ने पार्टी सिद्धान्त को पहली बार व्यवस्थित किया, बल्कि कहना चाहिए कि मार्क्सवाद के पार्टी सिद्धान्त के निर्माता लेनिन ही थे।''

मार्क्स-एंगेल्स से पहले मजदूरों की पार्टी का चरित्र जनपार्टी, अध्ययन चक्रों या तख़्तापलट के लिए बनाये गुप्त संगठनों सरीखा ही था। मार्क्स और एंगेल्स ने कम्युनिस्ट लीग के ज़रिए संगठन का एक स्पष्ट ढाँचा देने का प्रयास किया। इससे पहले मजदूरों ने जो संगठन बनाये वे चार्टिस्ट पार्टी, लीग ऑफ जस्ट और एसोसिएशन यानी जनपार्टी अथवा संगठन सरीखे सांगठनिक ढाँचे थे। इनका चरित्र तख़्तापलट के लिए बने दस्तों या अध्ययन चक्र के जाल सरीखा या जनसंगठन सरीखा था। ये ढाँचे वर्ग संघर्ष की आँच में तपकर मजबूत होते गये। इस प्रक्रिया में कम्युनिस्ट सांगठनिक उसूल भी पैदा हुए। इन्हें सूत्रबद्ध करने का काम बाद में सबसे व्यवस्थित और सुसंगत रूप में लेनिन ने किया।

पूँजीवाद के अन्तिम मंज़िल में पहुँचने पर पूँजीवादी राज्य का सैन्यकरण तथा अतिकेन्द्रीकरण होता है। मज़दूर वर्ग की पार्टी की बोल्शेविक अवधारणा भी एक ज़रूरत बन जाती है। लेनिनवादी पार्टी की अवधारणा जैकोबिन दल या कम्युनिस्ट लीग से अलग था। यही हो भी सकता था। यह वर्ग संघर्ष के तीखे होने और उसके साथ ही सर्वहारा वर्ग के हिरावल के केन्द्रीकृत सांगठनिक ढाँचे की आवश्यकता के अनुरूप पैदा होने वाला सांगठनिक रूप था। सर्वहारा वर्ग की पहली सचेतन क्रान्ति को अंजाम देने वाली बोल्शेविक पार्टी का सांगठनिक ढाँचा इतिहास की एक लम्बी प्रक्रिया का उत्पाद है। संगठन के स्वरूप के इतिहास पर चर्चा की शुरुआत जैकोबिन दल से की जा सकती है।

ग़ौरतलब है कि जब लेनिन ने रूस के कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद दो प्रवृत्तियों की पहचान की तो बहुतेरी जगह अवसरवादी धड़े और क्रान्तिकारी धड़े की तुलना फ्रांसीसी क्रान्ति में बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में मौजूद दो प्रवृत्तियों से किया। जैकोबिन दल ही इतिहास में संगठन का वह पहला रूप था जिसमें क्रान्तिकारी बुर्जुआ वर्ग संगठित हुआ था। इसके नेतृत्व में ही मेहनतकश वर्ग भी गोलबन्द हुए क्योंकि उस समय व्यापक मेहनतकश जनता, मध्यवर्ग, और बुर्जुआ वर्ग का एक साझा दुश्मन था: सामन्तवाद और राजशाही। इस इतिहास पर चर्चा करना वर्ग संघर्ष में हिरावल की भूमिका और सांगठनिक रूप के लिए ज़रूरी है, महज़ कोई अकादमिक क़वायद नहीं। निरंकुशता और प्रतिक्रान्ति के ख़िलाफ़ संघर्ष करने वाले जैकोबिन्स के बरक्स जिरोंदिन दल ने समझौतापरस्ती की। लेनिन ने 'समाजवादी जिरोंददल' रूसी अवसरवादियों को कहा और 'सर्वहारा जैकोबिन' क्रान्तिकारी धड़े को। बोल्शेविक पार्टी के बीच इन दो प्रवृत्तियों की चर्चा रूसी कम्युनिस्ट आन्दोलन में कई जगह मिलती है। प्लेखानोव भी अपने क्रान्तिकारी दौर में दो धड़ों की इस तुलना का ही प्रयोग करते हैं। लेनिन जैकोबिनपंथ की चर्चा कुछ इस तरह करते हैं :

"सर्वहारा वर्ग के इतिहासकार जैकोबिनवाद को उत्पीड़ित वर्ग की स्वतन्त्रता के एक उच्चत्तम संघर्ष के रूप में देखते हैं...बीसवीं सदी में जैकोबिनवाद यूरोप और एशिया (रूस में) के सीमान्तों पर क्रान्तिकारी सर्वहारा क्रान्तिकारी वर्ग का शासन होगा जिसको किसानों का समर्थन होगा और समाजवाद की ओर अग्रसर होने का भौतिक आधार मौजूद होगा। यह न सिर्फ़ 18 वीं शताब्दी के जैकोबिन्स की क्रान्ति के महान और अमिट उपलब्धियाँ भी मुहैया देगा बल्कि यह मज़दूरों की एक विश्व-विजयी जीत की ओर रुख़ कर सकता है... वह जैकोबिन जो सच्चे मायनों में वर्ग हितों को समझा है और सच्चे अर्थों में सर्वहारा वर्ग का हिरावल है, वह एक बोल्शेविक है!"

लेनिन जैकोबिन्स की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। जैकोबिन दल ने ही 1789 के बाद क्रान्ति को उसके अंजाम तक पहुँचाने का काम किया जिसमें उसे आम मेहनतकश जनता का समर्थन मिला। इस क्रान्ति में सचेतनता के तत्व भी थे। प्रबोधन काल के दार्शनिकों ने एक स्पष्ट राजनीतिक आधार दिया। एंगेल्स फ्रांसीसी क्रान्ति का ज़िक्र करते हुए लिखते हैं कि:

"महान फ्रांसीसी क्रान्ति बुर्जुआ वर्ग का तीसरा और धार्मिक चोगे को उतार फेंकने के मायने में पहला उभार था जो स्पष्ट राजनीतिक समझ पर लड़ा गया; यह इस मायने में भी पहला था जहाँ एक प्रतिद्वन्द्वी यानी राजशाही का समूल नाश हुआ और दूसरे प्रतिद्वन्द्वी यानी कि बुर्जुआ वर्ग की पूर्ण विजय हुई।

"फ्रांस में क्रान्ति ने अतीत की सभी परम्पराओं से पूर्ण विच्छेद किया; क्रान्ति ने सामन्तवाद के अवशेषों को साफ़ कर दिया और कोड सिविल के रूप में रोमन क़ानून का निपुण रूपान्तरण तैयार किया जो कि मार्क्स द्वारा मालों के उत्पादन की आर्थिक मंज़िल--पूँजीवाद के क़ानूनी सम्बन्धों को लगभग पूर्णता से अभिव्यक्त करता था।"

यूरोप में 15वीं सदी में पूँजीवाद के उदय की शुरुआत हुई। सामन्ती समाज के गर्भ में ही जन्मे बुर्जुआ वर्ग ने क़दम ब क़दम अपने को मज़बूत किया और एक लम्बे ऐतिहासिक संघर्ष में सामन्ती शासन को ख़त्म किया। बुर्जुआ वर्ग ने इस संघर्ष में अपने साथ मेहनतकश वर्गों को साथ लिया। एंगेल्स बुर्जुआ वर्ग के निम्न तीन महान संघर्षों का ज़िक्र करते हैं: जर्मन किसान विद्रोह, अंग्रेज़ी क्रान्ति और फ्रांसीसी कान्ति। फ्रांसीसी क्रान्ति इनमें सबसे प्रमुख है जिसने आमूलचूल तरीके से सामन्ती शासन को उखाड़ फेंका। फ्रांसीसी क्रान्ति को अपने अंजाम तक पहुँचाने का काम जैकोबिन दल के नेतृत्व में हुआ। 1789 के बाद 1791 के गृहयुद्ध में जैकोबिन्स को आम मेहनतकश वर्गों का समर्थन मिला 1792 से 1794 तक जैकोबिन दल के नेतृत्व में क्रान्तिकारी सरकार कायम रही। मार्क्स के शब्दों में "जैकोबिन्स ने उस ज़मीन को तोड़ दिया जिसमें सामन्तवाद जड़ जमा चुका था और उसने वहाँ सालों से धँसे सामन्ती रईसों को उखाड़ फेंका।" जैकोबिन्स के नेता रॉबर्सपियेर का बुर्जुआ वर्ग ने तख़्ता पलट कर क्रान्ति के ज़्यादा ही "आगे" बढ़ाने की सज़ा के तौर पर गिलोटिन से सिर कलम कर दिया। जैकोबिन्स ने 1792 से 1794 तक क्रान्ति को आगे बढ़ाया और बड़ी बुर्जुआजी की पुराने ढाँचे के साथ समझौते की कोशिशों और प्रतिक्रान्ति को परास्त किया। जैकोबिन्स आर्थिक तौर पर निम्न बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे हालाँकि यह एक भिन्न मतों का समूह अधिक था जिसमें केन्द्रीयता का अभाव था। जैकोबिन के पास कोई क्रान्ति का बोल्शेविक पार्टी सरीख़ा कार्यक्रम नहीं था परन्तु एक स्पष्ट और निश्चित राजनीतिक समझदारी तो थी ही।

फ्रांसीसी क्रान्ति के सफ़ल होने के बाद समानता, बन्धुत्व और स्वतन्त्रता के नारे मेहनतकश जनता के लिए काग़ज़ी सिद्ध होते हैं। एंगेल्स बताते हैं कि पूँजीवाद के अस्तित्व में आने के बाद "सम्पत्ति की स्वतन्त्रता" छोटे उत्पादकों और किसानों के लिए "सम्पत्ति से वंचित होने की स्वतन्त्रता" बन गयी और सामन्ती बुराइयों की जगह पूँजीवादी बुराइयों के लेने से व्यापार अधिकाधिक धोखा और फ़रेब बनता गया। "बन्धुत्व" के क्रान्तिकारी आदर्श का स्थान व्यापारिक होड़ के छल-कपट और ईर्ष्या-द्वेष ने ले लिया। ज़ोर-ज़ुल्म-ज़बर्दस्ती की जगह भ्रष्टाचार ने ले ली और सामाजिक शक्ति का मुख्य अस्त्र तलवार की जगह रुपया हो गया। वेश्यावृत्ति इतनी बढ़ गयी कि पहले कभी ऐसा सुना भी नहीं गया था। विवाह पहले की ही तरह वेश्यावृत्ति को ढके रखने का एक आवरण, उसका एक क़ानून द्वारा स्वीकृत रूप रहा, और साथ ही साथ व्यभिचार भी खूब होता रहा। ये ही वे परिस्थितियाँ थीं जिनमें कल्पनावादी समाजवादियों (फ्रांस के सेण्ट सीमों एवं फ़ूरिये तथा इंग्लैण्ड के रॉबर्ट ओवेन) ने समाजवाद के अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये।

मार्क्सवादी विचारधारा भी आसमान से नहीं टपक पड़ती है बल्कि इतिहास और समाज के वैज्ञानिक विश्लेषण की प्रक्रिया में अतीत के सिद्धान्तों से आलोचनात्मक सम्बन्ध क़ायम कर पैदा होती है। मज़दूर वर्ग की पार्टी के पहले रूप भी इस प्रकार ही बुर्जुआ वर्ग के संगठन के पहले प्रयोगों से आगे बढ़ते हैं। इतिहास की सबसे आमूल बुर्जुआ क्रान्ति का नेतृत्व करने वाला हिरावल दस्ता जैकोबिन दल इस दौर में ही खड़ा होता है।

जैकोबिन दल का चरित्र विभिन्न सामाजिक समूहों के एक ढीले संघ जैसा था जबकि बोल्शेविक पार्टी ने पूँजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ लड़ाई में एक केन्द्रीकृत नेतृत्व प्रदान किया। बोल्शेविक पार्टी ने सर्वहारा वर्ग के एक या दूसरे समूह का प्रतिनिधित्व नहीं किया बल्कि बुर्जुआ वर्ग के ख़िलाफ़ संघर्ष में एक वर्ग के रूप में सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व किया। जैकोबिन क्लब की तरह कम्युनिस्ट पार्टी अलग-अलग प्रवृत्तियों का "मुक्त" संघ नहीं हो सकती। फ्रांसीसी क्रान्ति का नेतृत्व जैकोबिन दल ही कर

(पेज 14 पर जारी)

सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षक और मज़दूरों का पहला राज क़ायम करने वाली अक्टूबर क्रान्ति के नेता **लेनिन** के जन्मदिवस (22 अप्रैल) के अवसर पर

सवाल यह पैदा होता है: राजनीतिक शिक्षा में क्या होना चाहिए? क्या उसे केवल निरंकुश शासन के प्रति मज़दूर वर्ग की शत्रुता के प्रचार तक ही सीमित रखा जा सकता है? हरगिज़ नहीं। मज़दूरों को उनका राजनीतिक उत्पीड़न **समझाना** काफ़ी नहीं है (जिस प्रकार मज़दूरों को यह **समझाना** काफ़ी नहीं था कि उनके हितों और मालिकों के हितों में परस्पर विरोध है)। इस उत्पीड़न की प्रत्येक ठोस मिसाल को लेकर आन्दोलन करना चाहिए (जिस प्रकार हमने आर्थिक उत्पीड़न की ठोस मिसालों को लेकर आन्दोलन करना शुरू कर दिया है)। और **यह** उत्पीड़न चूँकि समाज के विभिन्नतम वर्गों पर असर डालता है और चूँकि यह जीवन तथा कार्य के व्यवसायगत, नागरिक, वैयक्तिक, पारिवारिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, आदि विभिन्न क्षेत्रों में प्रकट होता है, इसलिए क्या यह स्पष्ट नहीं है कि जब तक **हम** निरंकुश शासन का **सर्वांगीण राजनीतिक भण्डाफोड़ संगठित** नहीं करेंगे, तब तक **हम** मज़दूरों की राजनीतिक चेतना को विकसित करने के **अपने काम को पूरा नहीं कर सकेंगे**? ज़ुल्म की ठोस मिसालों को लेकर आन्दोलन करने के वास्ते ज़रूरी है कि इन मिसालों का भण्डाफोड़ किया जाये (जिस प्रकार आर्थिक आन्दोलन चलाने के वास्ते ज़रूरी था कि कारख़ानों की बुराइयों का भण्डाफोड़ किया जाये)।

(**लेनिन** की प्रसिद्ध रचना **'क्या करें'** के अंश)

मलियाना हत्याकाण्ड के सभी अभियुक्त बरी

इस देश के इंसाफ़पसन्द लोग ऐसे झूठे फ़ैसलों को कभी स्वीकार नहीं करेंगे!

सत्यम

1947 के बाद से देश में हज़ारों साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं जिनमें हज़ारों लोग मारे गये हैं और लाखों परिवार तबाह हुए हैं। दंगों में हुए जानोमाल के नुक्सान के ज़ख़्म तो वक़्त के साथ भरने भी लगते हैं, लेकिन इंसाफ़ न मिलने और हत्यारों व बर्बर अपराधियों को बार-बार बचा लिये जाने के ज़ख़्म कभी नहीं भरते हैं।

वैसे तो अधिकांश दंगों में पुलिस-पीएसी और प्रशासन की भूमिका सन्दिग्ध रही है या खुल्लमखुल्ला बहुसंख्यक दंगाइयों के पक्ष में रही है, लेकिन कुछ ऐसी शर्मनाक घटनाएँ रही हैं जो "दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र" होने का दम भरने वाले इस देश की शासन व्यवस्था पर हमेशा एक भद्दे कलंक की तरह बनी रहेंगी। इनमें से एक है मलियाना की घटना जिसका एक और शर्मनाक अध्याय हाल में लिखा गया है।

पिछले तीन दशकों के दौरान चले "न्याय के नाटक" के दौरान 800 से भी ज़्यादा सुनवाइयों के बाद मेरठ के ज़िला न्यायालय ने इस सामूहिक हत्याकाण्ड के सभी 40 अभियुक्तों को "अपर्याप्त सबूतों के अभाव में" बरी कर दिया। मलियाना मामले में मूल रूप से 93 अभियुक्त शामिल थे। बाद के 36 वर्षों में कई अभियुक्तों की मृत्यु हो गई, जबकि कई अन्य का "पता नहीं लगाया जा सका" और अब इन बचे हुए 40 को भी छोड़ दिया गया है। फिर वही कहानी दोहरायी जा रही है कि मलियाना के 72 मुसलमानों को "किसी ने भी नहीं मारा!"

हालाँकि, न्याय के नाम पर इस अश्लील मज़ाक की शुरुआत तो 36 साल पहले फ़र्ज़ी एफ़आईआर लिखे जाने के साथ ही हो गयी थी!

1987 के मेरठ के दंगे, मलियाना और हाशिमपुरा के हत्याकाण्ड

मलियाना का नरसंहार मई 1987 में हुआ था। 1986 में बाबरी मस्जिद का ताला खुलवाये जाने से उपजे साम्प्रदायिक तनाव के माहौल में उत्तर प्रदेश के मेरठ शहर में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच हिंसक टकराव हुआ था जिसके बाद राज्य सरकार ने प्रांतीय सशस्त्र कांस्टेबुलरी (पीएसी) की 11 कंपनियों को शांति बनाए रखने में मदद करने के लिए भेजा। लेकिन पीएसी ने शान्ति क़ायम करने के नाम पर ज़िले में जगह-जगह मुसलमानों पर हमले शुरू कर दिये। स्थानीय मीडिया की रिपोर्टों और बाद में राष्ट्रीय मीडिया के साथ-साथ कई गैर-सरकारी संगठनों और जाँच दलों की रिपोर्टों ने इसकी पुष्टि की है।

22 मई को मेरठ के हाशिमपुरा मुहल्ले में पीएसी पहुँची और बड़ी संख्या में लोगों को ट्रकों में भरकर ले गयी और घरों और दुकानों में लूटपाट करके आग लगा दी। उठाये गये कुछ लोगों को मेरठ और फ़तेहगढ़ की जेलों में भेज दिया गया, लेकिन 42 मुसलमानों को गाज़ियाबाद के मुरादनगर में ऊपरी गंगा नहर और उत्तर प्रदेश-दिल्ली सीमा के पास हिंडन नदी के पास ले जाकर गोली मार दी गयी और उनके शवों को पानी में फेंक दिया गया। इस बीच मेरठ और फ़तेहगढ़ जेल में बन्द 11 लोगों की पिटाई से हिरासत में मौत हो गयी।

अगले दिन पीएसी पास के मलियाना में पहुँची। कई चश्मदीद गवाहों ने कहा है कि 44वीं बटालियन के कमाण्डेण्ट आर.डी. त्रिपाठी समेत वरिष्ठ अधिकारियों के नेतृत्व में पीएसी ने 23 मई, 1987 को दिन के लगभग 2.30 बजे मलियाना में प्रवेश किया और 72 मुसलमानों को मार डाला। पीएसी की टुकड़ी के साथ बंदूकों और तलवारों से लैस सैकड़ों स्थानीय लोग भी थे। क़त्लेआम मचाने से पहले इलाक़े में आने-जाने के सभी पाँच रास्तों को बन्द कर दिया गया था। प्रत्यक्षदर्शियों के अनुसार, "हर तरफ़ से मौत बरस रही थी। हत्यारों ने बच्चों और महिलाओं सहित किसी को भी नहीं बख्शा।"

जब ख़ुद पुलिस इस बर्बरता में शामिल थी तो एफ़आईआर लिखे जाने का तो सवाल ही नहीं उठता था। कई दिन बाद जब तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी और उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी मुख्यमंत्री वीर बहादुर सिंह मलियाना के दौरे पर गये और राजीव गांधी ने जाँच-पड़ताल तथा रिपोर्टों के बारे में पूछा तो पुलिस ने एक स्थानीय नागरिक याक़ूब अली से जबरन एक काग़ज़ पर दस्तख़त करवा लिये। पीएसी के हमले में ख़ुद बुरी तरह घायल हुए याक़ूब को बाद में पता चला कि जिस काग़ज़ पर उसने दस्तख़त किये वह एफ़आईआर थी। इस एफ़आईआर में 93 लोगों को हत्याकाण्ड का अभियुक्त बनाया गया था जिनमें से कोई भी पुलिसकर्मी नहीं था। ऐसा लगता है कि इलाक़े की वोटर लिस्ट से 93 लोगों के नाम लेकर डाल दिये गये थे। कुछ अभियुक्तों ने तो वाक़ई इस हत्याकाण्ड में हिस्सा लिया था लेकिन कई ऐसे भी थे जिनका इससे कोई वास्ता नहीं था। जब पुलिस ने गिरफ़्तारियों के लिए इन लोगों को ढूँढना शुरू किया तो पता चला कि कइयों की तो 23 मई 1987 से पहले ही मौत हो चुकी थी। कुछ लोग मुक़दमे के दौरान मर गये और कुछ आज तक पुलिस के लिए "लापता" हैं।

जिस ढंग से यह मुक़दमा चल रहा था और जिस ढर्रे पर ऐसे तमाम हत्याकाण्डों के मुक़दमे चलते रहे हैं, उसमें देरसबेर सब बरी हो जाते तो कोई हैरानी नहीं होती। लेकिन इस वक़्त आनन-फ़ानन में लाया गया यह फ़ैसला आरएसएस और भाजपा सरकार के दबाव में हुआ है, यह सन्देह करने के पर्याप्त आधार हैं। यह उसी सिलसिले की एक और कड़ी है जिसके तहत गुजरात में बिलकिस बानो बलात्कार और हत्याकाण्ड के अभियुक्तों को बरी किया गया और देशभर में मुसलमानों के ख़िलाफ़ अपराधों में लिप्त लोगों को छोड़ा और बचाया जा रहा है। इस सबके ज़रिए भाजपा अपने समर्थकों को क्या संकेत दे रही है समझना क़तई मुश्किल नहीं है।

मलियाना का मुक़दमा 36 साल से घिसट-घिसटकर चल रहा था लेकिन अभी जब अचानक यह फ़ैसला सुनाया गया तब तक कानूनी कार्रवाई ही पूरी नहीं हुई थी। 36 पोस्टमार्टमों पर सुनवाई नहीं हुई थी और दण्ड विधान की धारा 313 के तहत अभियुक्तों से जिरह भी नहीं हुई थी। यहाँ तक कि गवाहों से पूछताछ भी पूरी नहीं की गयी थी। 10 से भी कम चश्मदीद गवाहों को अदालत में पेश किया गया था जबकि कुल 35 गवाह मौजूद थे। सरकारी वकील के मुताबिक़ सबको बरी किये जाने का आधार यह था कि पुलिस ने अभियुक्तों की पहचान परेड तक नहीं करायी थी, वोटर लिस्ट से मनमाने ढंग से 93 नाम एफ़आईआर में डाल दिये थे और घटनास्थल से कोई हथियार भी बरामद नहीं हुआ था।

पूरे मामले पर शुरू से ही लीपा-पोती की जाती रही। हत्याकाण्ड के कुछ दिन बाद मुख्यमंत्री वीर बहादुर सिंह ने 10 लोगों के मारे जाने की घोषणा की। अगले दिन ज़िला मजिस्ट्रेट ने दावा किया कि 12 लोग मारे गये हैं। फिर जून 1987 के पहले सप्ताह में एक कुएँ से कई शव बरामद होने के बाद ज़िलाधिकारी ने स्वीकार किया कि 15 लोग मरे हैं। कुछ दिन बाद राज्य सरकार ने कुल मिलाकर मलियाना में 56 लोगों के मारे जाने को स्वीकार किया और मृतकों के परिवारों को मुआवज़े के नाम पर 20-20 हज़ार रुपये की मामूली रकम थमा दी गयी। कई साल बाद उनके ज़ख़्मो पर नमक छिड़कते हुए और 20-20 हज़ार रुपये दिये गये। बाद में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा बैठायी गयी न्यायिक जाँच के बाद पीएसी के कमाण्डेण्ट आर.डी. त्रिपाठी को निलम्बित करने की घोषणा की गयी। इस अफ़सर 1982 के मेरठ दंगों में भी गम्भीर आरोप लगे थे। मलियाना हत्याकाण्ड में आपराधिक लिप्तता के तमाम साक्ष्यों और सरकारी घोषणा के बावजूद त्रिपाठी को वास्तव में कभी निलम्बित नहीं किया गया। उल्टा उनसे रिटायरमेण्ट के समय तक पदोन्नतियाँ मिलती रहीं।

मलियाना में पीएसी की तैनाती लगातार बनी रही जिसकी वजह से गवाहों के बयान लेने में बाधा आती रही। जनवरी 1988 में श्रीवास्तव आयोग के आदेश पर पीएसी को हटाये जाने के बाद आयोग ने 84 गवाहों के बयान दर्ज किये जिनमें 70 मुस्लिम और 14 हिन्दू थे। इसके अलावा प्रशासन के 5 लोगों के भी बयान लिये गये। आयोग की कार्रवाई महज़ खानापूरी ई थी और आख़िरकार जुलाई 1989 में जब उसने अपनी रिपोर्ट दाखिल की तो उसे कभी सार्वजनिक ही नहीं किया गया। जिस दौरान श्रीवास्तव आयोग मलियाना मामले की जाँच कर रहा था, उसी बीच उत्तर प्रदेश सरकार ने 18 से 23 मई के बीच मेरठ में हुए दंगों की प्रशासकीय जाँच का भी आदेश दिया लेकिन इसमें मलियाना की घटनाओं और मेरठ तथा फ़तेहगढ़ जेल में हिरासत में हुई मौतें शामिल नहीं थीं। इसकी रिपोर्ट भी सार्वजनिक नहीं की गयी लेकिन 'द टेलीग्राफ़' अख़बार ने नवम्बर 1987 में इसे पूरा छाप दिया। इसमें भी 23 मई की घटनाओं की कोई चर्चा नहीं थी।

अप्रैल 2021 में वरिष्ठ पत्रकार क़ुरबान अली और पूर्व आईपीएस अधिकारी विभूति नारायण राय ने इलाहाबाद हाईकोर्ट में एक जनहित याचिका दायर करके 23 मई 1987 की घटनाओं के लिए विशेष जाँच टीम गठित करने और निष्पक्ष तथा त्वरित सुनवाई कराये जाने की अपील की। इस याचिका के अनुसार एफ़आईआर सहित मुकदमे के कई ख़ास दस्तावेज़ रहस्यमय ढंग से ग़ायब हो चुके हैं और पुलिस तथा पीएसी के लोग पीड़ितों और गवाहों को बार-बार धमकाते रहे हैं। हाशिमपुरा हत्याकाण्ड के मुक़दमे में 2018 में आये फ़ैसले में 16 पुलिसकर्मियों को दोषी पाया गया था और उसमें मारे गये 42 मुसलमानों के परिवारों को 20-20 लाख रुपये मुआवज़ा मिला था। लेकिन मलियाना के हत्याकाण्ड में तो पुलिस का नाम भी नहीं आया। इलाहाबाद हाईकोर्ट ने उत्तर प्रदेश सरकार को जवाबी हलफ़नामा दायर करने का आदेश दिया था। हालाँकि जनहित याचिका अभी भी हाई कोर्ट में लम्बित है लेकिन अब मेरठ की अदालत द्वारा सभी अभियुक्तों को बरी किये जाने के बाद पूरी सम्भावना है कि राज्य सरकार उच्च न्यायालय से यह मामला बन्द करने के लिए कहेगी।

अदालतों और जाँच आयोगों की रिपोर्टों में दफ़ना दिये गये अनेक मामलों की तरह यह मामला भी भले ही बन्द कर दिया जाये, मगर मलियाना के लोग और इस देश के इंसाफ़पसन्द लोग कभी भी ऐसे झूठे फ़ैसलों को स्वीकार नहीं करेंगे। मलियाना का मामला एक बार फिर हमें याद दिलाता है किसी भी रंग के झण्डे वाली चुनावबाज़ पूँजीवादी पार्टियाँ न तो साम्प्रदायिक दंगों को रोक सकती हैं और न ही उन्हें सज़ा दिला सकती हैं। मेहनतकशों के नेतृत्व वाली क्रान्तिकारी पार्टी की अगुवाई में कड़ा किया गया जनता का आन्दोलन ही इसके लिए दबाव बना सकता है और सच्चे सेक्युलर आधार पर समाज के नवनिर्माण का रास्ता खोल सकता है।

मज़दूर आन्दोलन में मौजूद किन प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ मज़दूर वर्ग का लड़ना ज़रूरी है?

(पेज 11 से आगे)

उभार पर है, सुधारों के लिए लड़ने के एक तथाकथित विशेष "कार्यभार" को सामने लाकर वह पार्टी को पीछे घसीट रहे हैं और "अर्थवादी" तथा उदारपंथी, दोनों प्रकार के अवसरवाद के हाथों खेल रहे हैं।"

यानी **अर्थवादी राजनीति वास्तव में सुधारवादी राजनीति ही है।** अर्थवाद जब यह कहता है कि मज़दूरों की केवल आर्थिक मसलों में ही दिलचस्पी होती है तो वह दरअसल अपनी सुधारवादी राजनीति और वैचारिकी की सीमाओं को ही उजागर कर रहा होता है। ज़ाहिरा तौर पर बिना राजनीतिक हस्तक्षेप के मज़दूर केवल वेतन-भत्ते के लिए संघर्ष में ही उलझे रहेंगे। यह कार्यभार तो हिरावल और सही क्रान्तिकारी राजनीति का है कि वह मज़दूर वर्ग को एक राजनीतिक वर्ग के तौर पर सोचना सिखाये। **यह सबसे बुनियादी लेनिनवादी शिक्षाओं में से एक है कि मज़दूर वर्ग की चेतना उस वक़्त तक सच्ची राजनीतिक चेतना नहीं बन सकती और मज़दूर वर्ग तब तक एक राजनीतिक वर्ग के रूप में संगठित और संघटित नहीं हो सकता है जब तक कि मज़दूरों को हर प्रकार के अन्याय, उत्पीड़न, दमन, हिंसा और अत्याचार का जवाब देना न सिखाया जाए,चाहे उसका सम्बन्ध किसी भी वर्ग से क्यों न हो।** और यह जवाब मज़दूर वर्ग को सामाजिक-जनवादी यानी कि कम्युनिस्ट दृष्टिकोण से देना चाहिए न कि किसी और दृष्टिकोण से। सामाजिक-जनवादी/कम्युनिस्ट राजनीति और अर्थवादी/ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति के बीच सबसे बुनियादी अन्तरों में से एक यह भी है जो लेनिन द्वारा बार-बार स्पष्ट किया गया है। इस फ़र्क को समझना हरेक मज़दूर के लिए वर्तमान दौर में भी आवश्यक है। इस अंक में हम इस चर्चा को यही विराम देते हैं। इससे आगे की चर्चा अगले अंक में जारी रहेगी।

(अगले अंक में जारी)

गाय के नाम पर फिर जुनैद और नासिर की बर्बर हत्या!

“गोरक्षकों” द्वारा आतंक व हत्याएँ पार कर रही हैं सारी हदें

शाम

यह कोई पहली बार नहीं है कि तथाकथित “गोरक्षकों” द्वारा बेगुनाहों को मारा-पीटा गया हो और हत्याएँ की गयी हों। बीती 14 फ़रवरी को “गोरक्षकों” द्वारा 25 वर्षीय नासिर और जुनैद को काफ़ी बर्बरता से मारा गया और उसके बाद उन्हें गाड़ी में जला दिया गया। इन “गोरक्षकों” ने भरतपुर (राजस्थान) में दोनों का अपहरण किया। इसके बाद लगभ 200 किलोमीटर दूर हरियाणा के भिवानी ज़िले की तहसील लोहारू के बारवास गाँव में लाकर उनको बोलेरो गाड़ी समेत जला दिया गया। हत्यारोपी दोनों को महज़ औपचारिकता पूरी करने के लिए सुबह अस्पताल और फिर फिरोज़पुर झीरका थाना लेकर गये थे। लेकिन पुलिस ने उसी वक़्त अपने हाथ खड़े कर दिये थे। अगर पुलिस मौक़े पर मौजूद दोषियों पर तत्काल कार्रवाई करती तो दोनों की जान बच सकती थी और मुजरिम पुलिस की हिरासत में होते। दोनों मृतक राजस्थान के मेवात के भरतपुर ज़िला में घाटमीका गाँव के रहने वाले थे। 35 वर्षीय नासिर के दो बच्चे भी हैं। वह मेहनत-मज़दूरी करके अपना घर चलाता था। वहीं जुनैद के घर पर ही एक छोटी दुकान थी जिससे उसके घर का ख़र्च चलता था। मृतकों के परिजनों द्वारा आठ लोगों के ख़िलाफ़ एफ.आई.आर दर्ज़ करायी जा चुकी है, जिसमें मोनू मानेसर का नाम सबसे प्रमुख है। इस मामले में आईपीसी की धारा 143, 365, 367, 368 के तहत मामला दर्ज़ कर जाँच जारी है।

लेकिन मोनू की गिरफ़्तारी पर आरएसएस के संगठन – बजरंग दल, हिन्दू महासभा आदि के लोग बीते 21 फ़रवरी को मानेसर में और बाद में पलवल में “हिन्दू महापंचायत” में पुलिस तक को धमकी दे रहे थे कि जो गिरफ़्तार करने आयेगा वह अपने पाँव पर वापस नहीं जायेगा। बहुत से “गोरक्षकों” ने तो “गोरक्षा” के नाम पर पैसा वसूलने का धन्धा बना लिया है। पिछले कुछ वर्षों में ही मोनू गैंग के पास बेशुमार पैसा आ गया है, इसलिए “गोरक्षा” के नाम पर पैसा वसूलने के धन्धे में इस गैंग के सम्मिलित होने की सम्भावना जतायी जा रही है। मोनू मानेसर के आरएसएस में होने के वीडियो भी सामने आ चुके हैं और बीजेपी के अमित शाह से लेकर तमाम भाजपा नेताओं, बाबा रामदेव, पुलिस और अन्य उच्च अधिकारियों, मीडियाकर्मियों के साथ भी उसकी फोटो है। यानी यह बात भी अब किसी नहीं छुपी है कि सत्ता में बैठी भाजपा सरकार का इन फ़ासिस्ट गुण्डा वाहिनियों को आशीर्वाद प्राप्त है। ऐसे कृत्य और बयानबाज़ी के पीछे अधिकांश लोग खुले रूप में उसी विचारधारा और राजनीति से सम्बद्ध हैं जिसे बिल्किस बानो के बलात्कारी संस्कारी नज़र आते हैं। यह बात तो पहले ही सामने आ चुकी है कि कठुआ में भी बलात्कारियों के पक्ष में इन्होंने ने ही तिरंगा यात्राएँ निकाली थी। दंगाइयों-बलात्कारियों के गलों में फूल मालाएँ डालते हुए हमेशा संघी-भाजपाई और उसके संगठन के लोग ही क्यों पाये जाते हैं? ऐसे संस्कारी लोगों का चाल-चरित्र-चेहरा जनता के सामने आ ही जाता है। इन तथाकथित गौ-भक्तों व “गोरक्षकों” और इनके संरक्षकों व रक्षकों की वास्तविक सच्चाई को ठीक से समझने की ज़रूरत है।

राजस्थान के मेवात इलाक़े में ऐसी पाँच घटनाएँ सामने आ चुकी हैं। 24 जुलाई 2018 को अलवर ज़िले के खानपुर गाँव में रकबर (या अकबर) की “गोरक्षकों” द्वारा पीट-पीटकर हत्या कर दी गयी। उससे पहले 2017 में ही अलवर, राजस्थान में पहलू खान की पीट-पीटकर हत्या कर दी गयी थी। हापुड़ के पिलखुआ में गौ-हत्या के आरोप में 20 जून 2022 के दिन उत्तरप्रदेश के मेरठ में कासिम की हत्या कर दी गयी और एक को बुरी तरह से घायल कर दिया गया था। ऐसी अनगिनत घटनाएँ देशभर में घट रही हैं। 2010 के बाद हुई मॉब लिंचिंग की 63 घटनाओं में से ज़्यादातर 2014 में मोदी सरकार आने के बाद ही घटी हैं। जून 2017 तक मॉब लिंचिंग (भीड़ द्वारा हत्या) की जो भी घटनाएँ सामने आयी हैं, उनमें गाय सम्बन्धी हिंसा के प्रतिशत में आश्चर्यजनक वृद्धि देखने को मिली। ज़्यादातर मामलों में मुस्लिमों व दलितों को निशाना बनाया गया है।

आरएसएस के “गाय-प्रेम” का सच

इन तथाकथित गोभक्तों और “गोरक्षकों” के गाय-प्रेम की असलियत को भी समझना ज़रूरी है। जब भूखी गाय भोजन की तलाश में दर-दर भटकती है, कूड़ा-करकट व सड़ा हुआ खाना और प्लास्टिक खाती हैं और जब लम्पी वायरस फैलता है तो यह तथाकथित गाय-प्रेमी नज़र नहीं आते हैं। भूखी गाय के इधर-उधर खुला भटकने से हाईवे व सड़कों में ट्रैफिक समस्या और मौतें बढ़ती जा रही हैं। इन अवारा भूखे जानवरों द्वारा फ़सल व कच्ची सब्ज़ियों को बर्बाद कर देने की वजह से किसान व रेहड़ी-पटरी लगाने वाले लोग भी परेशान है। इन जानवरों को रोकने पर कई बार जानवर इंसानों को गंभीर रूप से घायल कर देते हैं। झुग्गी-झोपड़ियों व गली-मोहल्लों में इन जानवरों के मल-मूत्र की वजह से गन्दगी की वजह से भी लोगों को काफ़ी समस्याएँ आती हैं। तथाकथित “गोरक्षकों” व गाय-प्रेमियों द्वारा इन चीज़ों को अनदेखा कर इंसानों पर हमले किये जा रहे हैं।

गोरक्षा का असली अर्थशास्त्र

एनडीटीवी और अन्य मीडिया रिपोर्टों में यह बात भी सामने आ चुकी है कि भाजपा के ही शासनकाल में बीफ़ का निर्यात 23% बढ़ा था। भारत ने 2014-15 में 2.4 करोड़ टन बीफ़ 65 देशों को निर्यात किया। यह 30,000 करोड़ रुपये का था, जो भारत के कुल निर्यात का 1% हिस्सा था। अलीगढ़ में अल-दुआ फ़ूड प्रोसेसिंग कम्पनी के डायरेक्टर रहे, बीजेपी विधायक और मुज़फ्फरनगर दंगों के आरोपी संगीत सोम 20 इस्लामी देशों में गोश्त बेचते रहे हैं। वहीं गोरक्षा का ढोल पीटने वाली हरियाणा में डबल इंजन की भाजपा सरकार ने एक तरफ़ हरियाणा, गुजरात व महाराष्ट्र में गोरक्षा क़ानूनों में बदलाव कर सज़ा व जुर्माने में वृद्धि की तो वहीं दूसरी तरफ़ यही भाजपा मेघालय के विधानसभा चुनावों को देखते हुए वहाँ पर बीफ़ को सस्ता करने की बात कर रही थी! इसलिए भाजपा व संघ द्वारा फैलाये जा रहे झूठों को भी समझने की ज़रूरत है।

संघ ने यह झूठ फैलाया है कि भारत में गोमांस खाने की प्रथा इस्लाम के आने के साथ शुरू हुई है और गोमांस के सेवन को मुस्लिम समुदाय के साथ जोड़ने का प्रयास लगातार करते रहे हैं। ऐतिहासिक सच तो यह है कि वैदिक से लेकर उत्तर वैदिक काल तक गाय समेत पशु-वध प्रचलित था। भारत में इस्लाम के आने से काफ़ी समय पहले से ही गोमांस खाने की प्रथा प्रचलित रही है। यह बात प्राचीन अनेक भारतीय ग्रन्थों में भाषाई व पुरातात्विक स्रोतों से साबित हो चुकी है। प्राचीन काल के उत्तरार्द्ध और मध्यकाल में ग्रामीण व्यवस्था में हुए कई परिवर्तनों की वजह से गोमांस खाने की प्रथा में बदलाव आये। तब गाय, बैल और भैंस कृषि व पशुपालन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे जिस कारण पशु वध को रोके जाने की भौतिक ज़रूरत पैदा हुई। तब वैदिक बलिदान की प्रथा के बदले ज़मीन या पशु दान करने की प्रथा प्रचलन में आयी। नतीजतन, पशुहत्या को निकृष्ट माना जाने लगा और इसपर रोक लगाने की शुरुआत हुई। हालाँकि इस दौरान भी गोवध को दण्ड की श्रेणी में नहीं रखा गया था। इस पर अधिक विस्तार से जानने के लिए प्रो. डी.एन. झा की किताब ‘पवित्र गाय का मिथक’ पढ़ी जा सकती है। संघ का यह दावा भी सरासर झूठ है कि आज भी सिर्फ़ मुसलमान ही गोमांस खाते हैं। सच्चाई तो यह है कि हिन्दू धर्म में भी कई जातियाँ गोमांस खाती हैं। केरल में 72 ऐसी जातियाँ हैं, जिनमें से कई हिन्दू भी हैं, जो गोमांस खाती हैं और इसके अलावा कई “निचली” कही जाने वाली जातियाँ गोमांस खाती हैं। गोआ और उत्तर पूर्व भारत में भी गोमांस खाया जाता है। आमतौर पर दलित, आदिवासी और शुद्र समुदाय के “निचले” तबक़े कई क्षेत्रों में मांस खाते हैं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि भारत दुनिया में गोमांस खाने वाले देशों में सातवें स्थान पर है। फिर गोरक्षा के नाम पर भीड़ की हिंसा का ख़ूनी खेल क्यों जारी है? यह आरएसएस द्वारा लोगों के सामने एक नक़ली दुश्मन खड़ा करने और अपने हालात से परेशान लोगों के ग़ुस्से को उस नक़ली दुश्मन की ओर मोड़ देने की राजनीति का हिस्सा है।

आज मेहनतकश-मज़दूर आबादी के असली मुद्दे – बढ़ती बेरोज़गारी, घटता स्थायी रोज़गार, बढ़ती महँगाई और बुनियादी ज़रूरतों के हिसाब से कम हो रहा न्यूनतम वेतन, कार्यस्थलों पर असुरक्षित व असुविधाजनक परिस्थितियाँ, मज़दूरपक्षीय श्रम क़ानूनों पर बढ़ रहे हमले, सबके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य के छिनते अधिकार, बढ़ते पर्यावरणीय संकट, भ्रष्टाचार, आपराधिक माहौल, छिनते जा रहे जनता के जनवादी और नागरिक अधिकार हैं। लेकिन इन सवालों से ध्यान भटकाने के लिए ही मोदी-शाह सरकार और संघ परिवार द्वारा साम्प्रदायिक उन्माद फैलाया जा रहा है। “क़ानूनी” और ग़ैर-क़ानूनी तरीक़े से बजरंग दल और उसकी गुण्डावाहिनियों की कारगुज़ारी के समर्थन में साम्प्रदायिक ज़हर फैलाने और अल्पसंख्यकों के सफाये की खुलेआम घोषणाएँ होती हैं। तथाकथित हिन्दू पंचायतों, साम्प्रदायिक सभाओं, रैलियों और नारों को “राष्ट्र” का गौरव बताया जा रहा है। मारूति, बेलसोनिका, प्रोटियरल/हिताची, सनबीम, रिको, नपिनो समेत दर्जन कम्पनियों के मज़दूरों के स्थायी रोज़गार के अधिकार पर हमले, श्रम अधिकारों, यूनियन और पदाधिकारियों को निष्कासन व प्रताड़ित करने, प्रबन्धन के समक्ष सामूहिक मोलभाव के अधिकार जैसे असली मुद्दों से ध्यान भटकाया जा रहा है। कुल मिलाकर जनता को आपस में बाँटने का काम सोचे-समझे तरीके से किया जा रहा है।

फ़ासीवादी शासन वित्तीय पूँजी की निरंकुश बर्बर तानाशाही होती है। इसके पीछे एक काडर-आधारित संगठन और एक घोर जनविरोधी (प्रतिक्रियावादी) सामाजिक आन्दोलन होता है जिसका आधार मुख्यतः टुटपुँजिया वर्ग के बीच होता है। इसके अलावा फ़ासीवाद का आधार मज़दूर वर्ग के एक छोटे से हिस्से के बीच भी मौजूद होता है। जनता में व्याप्त की निम्न चेतना, जड़ता, पुरातनपन्थी सोच और अतार्किकता फ़ासीवादी विचारधारा के लिए मुफ़ीद ज़मीन मुहैया कराते है। आज फ़ासीवाद-विरोधी एक जुझारू आन्दोलन खड़ा करने का काम तथाकथित विपक्षी पूँजीवादी पार्टियाँ तथा नकली लाल झण्डे वाली “वामपन्थी” संशोधनवादी-संसदमार्गी पार्टियाँ खड़ा नहीं कर पायेंगी। ऐसा करने में उनके वर्गीय हित आड़े आ जाते हैं। यह काम केवल मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी ही कर सकती है। ऐसे में सही वैचारिक समझ के आधार पर और सही तरीक़े से जुझारू लामबन्दी की ज़रूरत है। फ़ासीवाद पैदा ही पूँजीवाद के संकट के दौर में होता है, जिसके कारण एक बड़ी आबादी बुनियादी ज़रूरतों और अधिकारों से वंचित हो जाती है। ऐसे में हमारा काम यह बनता है कि जनता के बीच शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार जैसे बुनियादी मुद्दों को उठाते हुए इनकी राजनीति पर चोट करें और साथ ही जनता के बीच से जुझारू दस्तों को संगठित कर इन्हें सड़कों पर जवाब दिया जाय।

मज़दूर वर्ग की पार्टी कैसी हो

(पेज 12 से आगे)

सकता था और अक्टूबर क्रान्ति का नेतृत्व बोल्शेविक पार्टी।

फ्राँसीसी क्रान्ति के बाद ल्योन शहर में औद्योगिक दंगे, जर्मनी में सिलसियाई मज़दूरों के संघर्षों और चार्टिस्ट आन्दोलन के मील के पत्थरों के जरिये इतिहास 1848 की क्रान्ति तक पहुँचता है। इस दौरान मज़दूरों की पार्टी के रूप में चार्टिस्ट पार्टी और लीग ऑफ जस्ट सरीखे संगठन खड़े होते हैं। मज़दूर आन्दोलन ने स्वत:स्फूर्त गतिविधियों से आगे बढ़कर जब देश के स्तर पर एकजुट होने का प्रयास किया तब यह दौर मज़दूर क्रान्ति का पहला दौर था जब कम्युनिज़्म का हव्वा बूढ़े यूरोप को सता रहा था। इस दौर में जो ढाँचा अस्तित्व में आया वह परिस्थतियों की रोशनी में जन्मा थाायह कम्युनिस्ट लीग था। इस दौर में मार्क्स और एंगेल्स ने प्रूधोवादियों, ब्लांकीवादियों, लासालवादियों और फिर बर्नस्टीनवादियों से संघर्ष चलाकर पार्टी उसूलों की नींव डालनी शुरू की। इन बहसों ने भी मार्क्सवाद को उन्नत किया। मार्क्स और एंगेल्स ने सर्वहारा वर्ग के संगठन के उसूलों की भी आधारशिला रखने का काम किया। इस दौर पर हम अगली कड़ी में चर्चा करेंगे।

भूल सुधार

‘मज़दूर बिगुल’ के मार्च 2023 अंक में ‘क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षण माला–10’ में ‘विनिमय और मुद्रा’ उपशीर्षक में नवें पैरा में इस वाक्य को नीचे दिये गये ढंग से सुधारकर पढ़ें।

“मसलन, मान लीजिए कि एक समय में 10 किलो चावल का मूल्य 1/16 पाउण्ड या 1 आउंस चाँदी था। वैसे मुद्रा नाम के तौर पर 1 पाउण्ड में लगभग 240 पेनी होते हैं। वज़न के तौर पर, 1 आउंस लगभग 28 ग्राम के बराबर होता है। यहाँ हम इस विशिष्ट माल चावल और मुद्रा के तौर पर इस्तेमाल किये जा रहे माल यानी चाँदी, दोनों की ही मात्रा को वज़न में अभिव्यक्त कर रहे हैं।”

हमें खेद है कि ‘क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षण माला’ की ग्यारहवीं कड़ी इस बार नहीं जा पा रही है। यह अगले अंक में प्रकाशित होगी।

स्मृति दिवस (13 अप्रैल) के अवसर पर

आम जनता में अदम्य विश्वास रखने वाला, उम्मीदों और सपनों का लेखक एदुआर्दो गालेयानो

लता

इतिहास के सबसे कठिन और अँधेरे दौर में सपनों और उम्मीद की सबसे ज़्यादा ज़रूरत होती है या कहें कि कठिन और अँधेरे दौर ही सबसे चीमड़ उम्मीद और बेइन्तहा ख़ूबसूरत सपनों को जन्म देते हैं। करोड़ों-करोड़ मामूली, उपेक्षित, दबे-कुचले लोगों की रोज़-ब-रोज़ की हाड़तोड़ मेहनत और जद्दोजहद के बीच उम्मीदें और सपने अँखुआते हैं। उनके संघर्षों और आन्दोलनों में परिपक्व होते हैं। जनपक्षधर लेखक, कवि या इतिहासकार इन उम्मीदों और सपनों को शब्दों, कहानियों, लेखों और कविताओं में ढालते हैं। अपने समय में अपने लोगों के बीच जीते हुए जनपक्षधर कवि और लेखक जनता के हौसले, धैर्य, जिजीविषा, दृढ़ता, असफलता, सफलता और उम्मीद इकट्ठा करते हैं, उनके ताने-बाने बुनते हैं और फिर उन्हें वापस लोगों तक पहुँचा देते हैं। ऐसे लेखकों और कवियों के शब्द जनता तक "दान्को के जलते हृदय"* की तरह वापस पहुँचते हैं। उनके शब्दों के आईने में जनता अपने इतिहास और अपनी क्षमताओं से परिचित होती है और साथ में शोषकों-उत्पीड़कों को भी पहचानती है। उन शब्दों के आईने में वह भविष्य के सुन्दर सपने भी देखती है। शोषकों के झूठे इतिहास का गुब्बारा फूटता है। दबी-कुचली जनता इतिहास और कला के आईने में अपनी छवि देखती है। जनपक्षधर लेखक और कवि पद, प्रतिष्ठा, पुरस्कार और सम्मान की परवाह किये बिना जनता के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी का निर्वाह करते हैं। जनता में अटूट विश्वास उनकी इतिहास दृष्टि को वर्ग पक्षधर बनाती है और भविष्य की उम्मीदें अँधेरे-से-अँधेरे दौर में भी उनकी लेखनी में सुरक्षित रहती हैं। ऐसे लेखक जनता के दिलों में हमेशा बसते हैं। ऐसे ही एक जनपक्षधर लेखक हैं एदुआर्दो गालेयानो।

पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के प्रति समझौताविहीन तीखे स्वर की वजह से और हमेशा जनता के पक्ष में खड़े होने के कारण गालेयानो की आलोचकों ने या अकादमिक जगत ने काफ़ी उपेक्षा की है। लेकिन जनता के अलावा शासक वर्ग ने उनकी लेखनी की ताक़त को सबसे अधिक समझा और उनकी किताबों पर प्रतिबन्ध लगाकर उसका उचित सम्मान किया। उचित होगा कि गालेयानो की किताबों पर जनता की प्रतिक्रिया को उनके कुछ वाक्यों के माध्यम से बताया जाये।

कोलम्बिया की राजधानी बोगोता में गालेयानो की किताब पर प्रतिबन्ध होने के बावजूद बस में चुपचाप उनकी किताब 'लातिन अमेरिका की खुली शिराएँ' पढ़ती लड़की उठ खड़ी हुई और ज़ोर-ज़ोर से बस के सहयात्रियों को किताब पढ़कर सुनाने लगी। चीले में तानाशाही के दौरान सड़कों पर चल रहे नरसंहार से बचने के लिए सान्तियागो (चीले की राजधानी) से भाग रही महिला ने यह किताब अपने साथ ले जाने के लिए उसे अपने बच्चे के डाइपर में छुपा लिया। अर्जेण्टीना की राजधानी बुएनेस आइरेस में एक छात्र एक दुकान से दूसरी दुकान और कई दुकानों में जा-जाकर इस किताब के अध्याय पढ़ता रहा क्योंकि उसके पास किताब ख़रीदने के पैसे नहीं थे।

गालेयानो की रचनाओं के प्रति जनता का यह प्रेम साफ़ बताता है कि गालेयानो उनका ही गीत गा रहे थे, उनके सपने बुन रहे थे और उनके संघर्षों की दास्तान सुना रहे थे। गालेयानो अपने लेखन में पूँजीवादी व साम्राज्यवादी बर्बरता और लूट-खसोट की घिनौनी और ख़ूनी सच्चाई को बेलाग-लपेट उजागर करते हैं। उनकी लेखनी मानवीय भावनाओं का असीम भण्डार है। रोज़मर्रा के वाकये और भावनाएँ उसमें एक नया जीवन पाते हैं। जिन हज़ारों मामूली चीज़ों से मिलकर महान और साधारण का सृजन होता है उन्हीं मामूली चीज़ों को गालेयानो की लेखनी आलोकित करती है। उनकी छोटी-छोटी कहानियाँ हमारे सामने जीवन के हज़ारों ख़ूबसूरत रंगों की छटा बिखेरती हैं। गालेयानो लिखते हैं कि पढ़े-लिखे शिक्षित तबकों के छोटे और तुच्छ लगने वाले मामूली लोग समाज परिवर्तन की असल प्रेरक शक्ति होते हैं। कई-कई तुच्छ लोग, छोटी-छोटी जगहों पर रहते हुए, छोटे-छोटे काम करते हुए परिवर्तन के असल माध्यम होते हैं, इतिहास के रथ के पहिये होते हैं।

गालेयानो की लेखन शैली, उनकी इतिहास दृष्टि और सौन्दर्यबोध पर हम 'बिगुल' के आगामी अंकों में चर्चा करेंगे। लेकिन उसके पहले उनकी कुछ कृतियों को आपके सामने प्रस्तुत कर रहे हैं। इन कृतियों के ज़रिये हम इस जनपक्षधर लेखक के जनता में अटूट विश्वास से आपका परिचय कराना चाहेंगे।

....

गालेयानो फुटबॉल पर छपी उनकी एक किताब पर लोगों की प्रतिक्रिया का इन्तज़ार कर रहे थे।

1930 का वर्ल्ड कप

फोन की घण्टी बजी। मैंने सुना एक भारी आवाज़ दूसरी ओर से कह रही थी, "मुझे विश्वास नहीं हो रहा है कि तुमने ऐसी ग़लती की है। सुनो, मैं मज़ाक नहीं कर रहा हूँ, ग़लती होती है और किसी से भी ग़लती हो सकती है, लेकिन ऐसी गलती..."

मेरा दिल बैठ गया। मैं कुछ बोल नहीं पा रहा था। फुटबॉल पर मेरी किताब बस अभी छपी है, और मेरे देश में इस विषय पर सबको डॉक्टरेट हासिल है। मैंने अपनी आँखें बन्द कीं और विनाश के लिए ख़ुद को तैयार करने लगा।

कड़क, कठोर आवाज़ ने कहा "1930 का वर्ल्ड कप",

"हाँ" मैं बुदबुदाया

"जुलाई का महीना था।"

"हाँ"

"और मौन्तेविदेओ में मौसम कैसा होता है जुलाई में?"

"ठण्ड"

"कड़ाके की ठण्ड।" उस आवाज़ ने मुझे सुधारा। और फिर दुबारा से मुझपर बरसा: "और तुमने लिखा है कि स्टेडियम स्ट्रॉ हैट का समुद्र था! स्ट्रॉ! फेल्ट! फेल्ट हैट थे सभी!"

इसके बाद आवाज़ थोड़ी शान्त हुई, रोष कम हुआ, और फिर से याद करते हुए कहा: "मैं उस दोपहर वहाँ पर था। चार-दो से हमारी जीत हुई थी, इसे मैं अभी भी देख सकता हूँ। लेकिन इसके लिए मैंने तुम्हें कॉल नहीं किया है। मैंने इसलिए कॉल किया है कि मैं हैट बनाने वाला हूँ, और यही काम मैंने सारी ज़िन्दगी किया है। और उस दिन उनमें से कई हैट मेरे बनाये हुए थे।

(गालेयानों की किताब "सॉकर" का एक हिस्सा)

इसे पढ़ कर हम समझ सकते हैं कि गालेयानो अपने लोगों को कितना प्यार करते थे और उनके प्रति उनमें कितना सम्मान था। गालेयानो के लिए लोग महज़ अध्ययन की चीज़ नहीं थे बल्कि गालेयानो अपने आपको जनता का हिस्सा मानते थे। बराबरी पर इतिहास उनसे साझा करते थे।

चिड़ियों पर प्रतिबन्ध

उरुग्वे के राजनीतिक कैदी बिना इजाज़त बात नहीं कर सकते और न ही सीटी बजा सकते हैं, न मुस्कुरा सकते हैं, न गा सकते हैं, तेज़ भी नहीं चल सकते या दूसरे कैदियों से दुआ-सलाम तक नहीं कर सकते; और न ही वे गर्भवती स्त्री, प्रेमी जोड़ों, तितलियों, सितारों या चिड़ियों की तस्वीर बना सकते हैं और न ही उन्हें कोई ये तस्वीरें ला कर दे सकता है। एक इतवार, एक स्कूल टीचर दीदास्को पेरेस की पाँच साल की बेटी मिलाई उससे मिलने आई। दीदास्को पेरेस को उसके सैद्धान्तिक विचारों के लिए प्रताड़ित किया गया और इसलिए ही उसे जेल भेजा गया। मिलाई उसके लिए चिड़ियों की तस्वीर लेकर आयी थी। पहरेदारों ने जेल के प्रवेश द्वार पर उसकी तस्वीर को फाड़ दिया। अगले इतवार मिलाई उसके लिए पेड़ों की तस्वीर लेकर आयी। पेड़ों पर प्रतिबन्ध नहीं है और इसलिए उसकी तस्वीर दरवाज़े से अन्दर आ गयी। दीदास्को उसकी बनायी तस्वीर की तारीफ़ करता है और उससे पेड़ों पर बने रंगीन गोलाकार के बारे में पूछता है। कई छोटे-छोटे गोलाकार, कुछ पत्तियों और टहनियों के पीछे आधे छुपे थे: *"क्या ये सन्तरे हैं? कौन से फल हैं ये सभी?"*

वह छोटी बच्ची उसके मुँह पर उँगली रखकर उसे चुप कराती है। *"श्श्श"*

और वह उसके कान में फुसफुसाकर आहिस्ते से कहती है: "बेवकूफ़। क्या तुम्हें दिख नहीं रहा, ये आँखें हैं? ये उन चिड़ियों की आँखें हैं जिन्हें मैं तुम्हारे लिए छुपाकर लायी हूँ।" (*तूफ़ान की सदी*)

एक छोटी सी बच्ची यदि तानाशाही को चुनौती दे सकती है तो जनता में बहुत ताक़त है।

ऑबदुलियो

पासा उसके ख़िलाफ़ जा रहा था लेकिन फिर भी ऑबदुलियो दृढ़ता से सामने आया और बॉल को किक किया। उरुग्वे का यह प्रभावशाली, दृढ़ और मज़बूत अश्वेत कप्तान मायूस नहीं हुआ। स्टेडियम के गलियारों से प्रतिद्वन्दियों के समर्थन में विरोधी जनता दहाड़ रही थी। वह जितना ही दहाड़ती, ऑबदुलियो उतना ही मज़बूत होता जाता।

माराकाना स्टेडियम में आश्चर्य और दुख का समन्दर लहरा रहा था: महान ब्राज़ील, धूल चटाने वाला, गोल करने की मशीन, हमेशा से लोगों का चहेता आख़री मैच के आख़री मिनट में हार गया। उरुग्वे अपनी ज़िन्दगी-मौत की लड़ाई लड़ रहा था और उसने विश्व चैम्पीयनशिप जीत ली।

उस रात पत्रकारों, चाहने वालों और उत्सुक लोगों से घिरा ऑबदुलियो वरेला चुपचाप अपने होटल से बाहर निकल आया। अकेले ही जश्न मनाने के लिए वह दूरदराज के किसी छोटे बार, पब या ऐसे ही किसी जगह जाम की तलाश में निकला, लेकिन सभी जगह उसे रोते हुए ब्राज़ील के लोग दिखे। अभी कुछ घण्टों पहले ही मैच के दौरान स्टेडियम में यही लोग गा रहे थे "ऑबदुलियो हमें असल चुनौती दे रहा है।" अभी वही लोग आँसुओं में तर रो रहे हैं, "सारी ग़लती ऑबदुलियो की है।"

और ऑबदुलियो अभी बस कुछ देर पहले उन्हें इतना नापसन्द कर रहा था लेकिन उन्हें आमने-सामने देख कर आश्चर्यचकित था। जीत उसे सीने पर भारी महसूस होने लगी। उसने इन अच्छे लोगों के जश्न को किरकिरा कर दिया और वह सोचने लगा कि क्या उसे जीतने के घोर अपराध के लिए उन लोगों से माफ़ी माँगनी चाहिए। इसलिए ही वह रियो की गलियों में एक बार से दूसरे बार भटकता रहा। भोर ने उसे सुबह तक पीते और हारे हुए लोगों को गले लगाते पाया। *(सेंचुरी ऑफ विंड)*

(कहानियों का मूल स्पेनी से अनुवाद : **लता)**

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2023-2026
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

न्यायमूर्ति महोदय, असमानता और ग़रीबी का कारण भ्रष्टाचार नहीं, पूँजीवाद है!

सत्यम

अभी हाल में सुप्रीम कोर्ट एक बार फिर इस बात से दुखी हो गया कि भारत में समता और समानता नहीं आ पायी है। नयी दिल्ली के सबसे महँगे इलाक़े की आलीशान कोठियों से उच्चतम न्यायालय में न्याय के ऊँचे आसनों पर बैठने के लिए जाने के छोटे-से रास्ते के दरम्यान कभी-कभी इन न्यायमूर्तियों को किसी ग़रीब की झुग्गी शायद दिख जाती है, या कभी ग़लती से किसी अख़बार में ग़रीबी पर छपी किसी ख़बर पर न्यायमूर्ति की नज़र पड़ जाती है तो उनका भावुक मन क्षोभ से भर उठता है : अरे! अभी तक भारत में इतनी असमानता है! ये तो हमारे संविधान की भावना का घोर अपमान है! फिर वे देश से ग़रीबी का नामोनिशान मिटा डालने के बारे में लम्बे-लम्बे भाषण दे डालते हैं जो अगले दिन दो-चार अख़बारों में छपते हैं और फिर किसी को याद भी नहीं रहते। दिल का यह बोझ उतर जाने के बाद न्यायमूर्ति महोदय या महोदया फिर साफ़ मन से हज़ारों ग़रीबों के घरों पर बुलडोज़र चलाने, लाखों हेक्टेयर के जंगल किसी पूँजीपति को रौंद डालने के लिए सौंप देने या सैकड़ों मज़दूरों को काम से निकाल देने जैसे फ़ैसले सुनाने में लग जाते हैं जिनसे संविधान की "आत्मा" पर खरोंच भी नहीं आती है।

पिछले दिनों न्यायमूर्ति एस. रवीन्द्र भट्ट और दीपांकर दत्ता के साथ भी ऐसा ही हुआ। देश में असमानता से दुखी होकर उन्होंने कहा कि देशवासियों को सामाजिक न्याय देने के लिए "सम्पत्ति का समान बँटवारा" करने का संविधान की प्रस्तावना में किया गया वादा आज भी "दूर का सपना" बना हुआ है। उन्होंने यह भी कह डाला कि इसका कारण है देश में फैला भ्रष्टाचार।

छत्तीसगढ़ में पूर्व भाजपाई मुख्यमंत्री रमनसिंह के समय कुछ अधिकारियों के भष्टाचार के मामले में फ़ैसला सुनाते हुए न्यायमूर्तिद्वय ने पूरे समाज को काफ़ी खरी-खोटी सुनायी कि भ्रष्टाचार जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त हो गया है और संविधान के निर्माताओं ने जिन ऊँचे आदर्शों के बारे में सोचा था उनका तेज़ी से पतन हो रहा है। जैसीकि आजकल की रीति-नीति है, न्यायमूर्तियों ने हिन्दू धर्म का डण्डा भी लहराया और कहा कि हिन्दू धर्म में लालच को "सात पापों में से एक" माना गया है और सम्पत्ति के इसी लालच के कारण भ्रष्टाचार कैंसर बन गया है जिसके चलते देश में ग़ैरबराबरी दूर ही नहीं हो रही है! इसके बाद उन्होंने सरकारी अधिकारियों-कर्मचारियों के भ्रष्ट आचरण पर काफ़ी कुछ बोला।

कहने की ज़रूरत नहीं कि इस समाज में जारी सबसे बड़ी लूट, सबसे बड़े भ्रष्टाचार, सबसे बड़ी चोरी पर उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, उसका ज़िक्र भी नहीं किया, जबकि दिनदहाड़े, संविधान के संरक्षण में चलने वाली यही लूट हर भ्रष्टाचार की जड़ में है। यह "क़ानूनी" लूट है सर्वत्र जारी मेहनत की लूट। पूँजी द्वारा श्रम की लूट। पूँजीपति द्वारा मज़दूर की श्रमशक्ति को आठ, दस या बारह घण्टे के लिए ख़रीदकर उसकी क़ीमत के रूप में बस उतना देना जितना वह कुछ घण्टों में (या आधुनिक उद्योगों में कुछ मिनटों में) पैदा कर देता है, और उसके श्रम की बाक़ी पैदावार को हड़प लेना। **यही वह सबसे बुनियादी लूट है जिसके दम पर इस समाज की सारी धन-दौलत खड़ी हुई है।**

पूँजीवादी व्यवस्था में जिस तरह से मेहनतकश जनता को लूटकर अमीरज़ादों की तिजोरियाँ भरी जाती हैं, वह अपनेआप में भ्रष्टाचार है। एक ऐसा भ्रष्टाचार जिसे पूँजीवादी संविधान और क़ानून-व्यवस्था से मान्यता मिली हुई है। मुनाफ़ा कमाने और पूँजी बटोरने, या दूसरे शब्दों में कहें तो निजी सम्पत्ति खड़ी करने का अधिकार पूँजीवादी व्यवस्था में एक मूलभूत अधिकार है। लेकिन निजी मुनाफ़ा कमाने की पूरी प्रक्रिया मज़दूरों के शोषण से ही चलती है। मज़दूर अपनी मेहनत के बूते समस्त भौतिक सम्पदा का उत्पादन तो करता है लेकिन उस पर उसका कोई अधिकार या नियन्त्रण नहीं होता। देश की 80 फ़ीसदी मेहनतकश जनता खेतों-खलिहानों और कल-कारख़ानों में दिनों-रात खटकर अकूत भौतिक सम्पदा का उत्पादन करती है लेकिन उसके भारी हिस्से को हड़प लेते हैं मुट्ठीभर पूँजीपति। **इसी का नतीजा है लगातार बढ़ती असमानता।** 1981 में भारत के सबसे ऊपर के 10 प्रतिशत अमीरों की सम्पत्ति देश की कुल सम्पदा का 45 फ़ीसदी थी जो 2012 में बढ़कर 63 फ़ीसदी और 2022 में बढ़कर 80 फ़ीसदी से भी अधिक हो गयी। इस समय देश की कुल सम्पदा के 90 प्रतिशत पर ऊपर के 30 फ़ीसदी लोगों का क़ब्ज़ा है। सबसे ऊपर के 1 प्रतिशत धन्नासेठों के पास देश की 40 फ़ीसदी से भी अधिक सम्पदा इकट्ठी हो गयी है जबकि नीचे के 50 प्रतिशत लोगों के पास कुल सम्पदा का सिर्फ़ 3 फ़ीसदी है।

रिश्वतख़ोरी, कमीशनख़ोरी आदि तो इस संविधान-सम्मत लूट के आगे बहुत छोटे हैं। पूँजीपति वर्ग देश में होने वाले उत्पादन में कोई सीधी भूमिका नहीं निभाता। उत्पादन की प्रक्रिया में उसकी कोई भागीदारी नहीं होती। यह केवल अपनी पूँजी के बल पर मुनाफ़ा पीटने वाला परजीवी, अनुत्पादक और शोषक वर्ग है। लेकिन देश के उत्पादन से लेकर राज-काज और समाज के पूरे ढाँचे पर उसी का एकाधिकार है। अगर वह कोई धाँधली या घोटाला न भी करे तो भी उसकी सारी सम्पत्ति भ्रष्टाचार, लूट, चोरी और अन्याय से ही आती है और इसी के ज़रिए बनी रहती है। लेकिन पूँजीवाद में ख़ुद उसी के बनाये नियमों-क़ानूनों को तोड़कर होने वाला भ्रष्टाचार भी होता ही है।

पूँजीपतियों के बीच मुनाफ़े के लिए गलाकाटू होड़ मची रहती है। होड़ के बिना पूँजीवाद चल ही नहीं सकता। बड़ी पूँजी छोटी पूँजी को निगलती रहती है।। अपना-अपना मुनाफ़ा बढ़ाने की होड़ में पूँजीपति मज़दूरों से ज़्यादा से ज़्यादा काम कराने की तिकड़में करते रहते हैं और उनके क़ानूनी अधिकारों को भी छीन लेते हैं। उनसे सिंगल रेट पर ओवरटाइम कराते हैं, सुरक्षा उपकरण, स्वास्थ्य बीमा आदि के ख़र्चों को मार लेते हैं, उन्हें सरकार द्वारा निर्धारित "न्यूनतम मज़दूरी" भी नहीं देते। इसके बाद भी वे टैक्स चुराते हैं और कॉण्ट्रैक्ट हासिल करने तथा नियमों को अपने मनमाफ़िक तोड़ने-मरोड़ने के लिए नेताओं और अफ़सरों को रिश्वत भी खिलाते हैं। **यानी कि पूँजीवादी लूट-खसोट की होड़ जब क़ानूनी दायरे में होती है तब भी वह आम मेहनतकशों के हक़ों पर डाका मारती है और जब यह होड़ क़ानून की चौहद्दी को लाँघ जाती है तो रिश्वतख़ोरी-कमीशनख़ोरी के रूप में समाज में काले धन का अम्बार इकट्ठा करने लगती है और विलासी नेताओं-अफ़सरों-दलालों का बिचौलिया तबक़ा भी चाँदी काटने लगता है।**

हर पूँजीवादी व्यवस्था में सरकार समूचे पूँजीपति वर्ग की 'मैनेजिंग कमेटी' ही होती है। लेकिन होड़ में आगे निकलने के लिए अलग-अलग राजनेताओं और नौकरशाहों को पटाने के काम में अलग-अलग पूँजीपति घराने लगे रहते हैं। पिछले तीन दशक से जिस "खुली बाज़ार-अर्थव्यवस्था" के गुण गाये जा रहे हैं, उसमें यह खेल और तेज़ और नंगा हो गया है। नियम-क़ानून की परवाह किये बिना चुनिन्दा कम्पनियों-घरानों द्वारा नेताओं-नौकरशाहों को पटाकर सार्वजनिक और राष्ट्रीय संसाधनों की लूट, परियोजनाओं और खनन के लिए ज़मीनों के पट्टे और लाइसेंस हासिल करने और राजकीय मशीनरी के ज़रिये जनता को उसकी जगह-ज़मीन से उजाड़ने का काम लगातार जारी रहा है। मोदी की अगुवाई में फ़ासिस्ट सरकार के दौर में यह सबकुछ पहले से कहीं ज़्यादा आक्रामक ढंग से और ज़्यादा नंगई से हो रहा है, फ़र्क़ बस इतना ही है। "क्रोनी कैपिटलिज़्म" यानी सरकार के कुछ चहेते पूँजीपतियों के लिए नियम-क़ायदों को ताक पर धर देने का काम भी मोदीराज में शुरू नहीं हुआ है। अडाणी और अम्बानी भी कांग्रेस के शासन में वे सारी कारगुज़ारियाँ करते हुए ही मुटियाए थे जो वे आज कर रहे हैं। बेशक़ मोदी सरकार ने उनकी सेवा में बेशर्मी के सारे रिकॉर्ड तोड़ डाले हैं।

दरअसल, भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद मध्यवर्गीय मुँगेरीलाल के हसीन सपने के अलावा कुछ नहीं है। जबतक पूँजीपतियों की क़ानूनी लूट चलती रहेगी तबतक ग़ैरक़ानूनी लूट को भी कोई ख़त्म नहीं कर सकता। काला धन सफ़ेद धन की ही "नाजायज़" औलाद होता है। प्रसिद्ध उपन्यासकार बाल्ज़ाक़ ने कहा था, "हर सम्पत्ति-साम्राज्य अपराध की ही बुनियाद पर खड़ा होता है।"

अपने फ़ैसले में न्यायमूर्तिद्वय ने समाज में बढ़ते लालच की संस्कृति पर काफ़ी क्षोभ व्यक्त किया है। लेकिन लोभ-लाभ की यह संस्कृति पैदा कैसे होती है और समाज में ऊपर से नीचे तक फैल कैसे जाती है? इस घिनौनी संस्कृति की जननी यह पूँजीवादी व्यवस्था ही है। पूँजीवाद लालच और अपने लिए ज़्यादा से ज़्यादा बटोर लेने की इस संस्कृति को लगातार बढ़ावा देता रहता है। पूँजीवादी लोकतंत्र की नौटंकी में कुल मिलाकर सरकारें पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी होती हैं, संसद बहसबाज़ी का अड्डा होता है, नौकरशाही शासन और शोषण की नीतियाँ बनाती है और लागू करती है, जज न्याय की नौटंकी करते हुए सम्पत्ति के अधिकार की सुरक्षा करते हैं और सेना-पुलिस इस लूटतंत्र के विरुद्ध हर विद्रोह को कुचलने का काम करती है। इन सभी कामों में लगे हुए लोग पूँजीपतियों के वफ़ादार सेवक होते हैं और सेवा के बदले उन्हें ऊँचे वेतन-भत्तों और विशेषाधिकारों का मेवा मिलता है। जो भी इस जमात में शामिल होता है, उसे यह समझते देर नहीं लगती कि वह लुटेरों का सेवक है। लुटेरों के सेवकों से नैतिकता और सदाचार की उम्मीद क़तई नहीं की जा सकती। शोषित-उत्पीड़ित जनों को भरमाते-ठगते-दबाते और कुचलते हुए जहाँ भी उन्हें मौक़ा मिलता है वे अपनी भी जेबें गर्म करने से बाज़ नहीं आते। वे पूरे बुर्जुआ वर्ग के सेवक होते हैं, लेकिन पूँजीपति घरानों की आपसी होड़ का लाभ उठाकर इस या उस घराने से दलाली और कमीशन की मोटी रक़म ऐंठने से भी बाज़ नहीं आते। जब शासन-प्रशासन के ऊपरी स्तरों पर ऐसे भ्रष्टाचार का बोलबाला रहता है, तो नीचे तक भी उसका फैलाव लाज़िमी ही होता है।

ऐसे में, सवाल सिर्फ़ घूसख़ोरी-कमीशनख़ोरी या घोटालों को रोकने का नहीं है। असली बात यह समझ लेना है कि पूँजीवादी व्यवस्था के रहते ऐसे भ्रष्टाचार का ख़ात्मा हो ही नहीं सकता। इसलिए केन्द्रीय प्रश्न निजी मुनाफ़े पर टिकी पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के विकल्प के बारे में सोचने का है। इस विकल्प के बारे में सोचने और फिर उसे ज़मीन पर उतारने के लिए संगठित होकर लड़ने का कार्यभार आज इस देश के संवेदनशील और न्यायप्रिय नौजवानों और मज़दूर वर्ग के कन्धों पर है। भ्रष्टाचार मिटाने के नाम पर अन्ना हज़ारे की नौटंकी का हश्र आज हमारे सामने है – अब तक की सबसे भ्रष्ट और मेहनतकशों की दुश्मन सरकार का राज। बीच-बीच में भ्रष्टाचार के विरुद्ध न्यायपालिका के ऐसे उद्गार भी असली भ्रष्टाचार पर पर्दा डालने और ध्यान भटकाने के अलावा कुछ नहीं करते।

सच यह है कि यह पूरी व्यवस्था सिर से पाँव तक सड़ चुकी है और मेहनतकश जनसमुदाय के सामने एकमात्र विकल्प यही है कि वह पूँजीवादी संसदीय जनवाद की इस अँधेरगर्दी और लूटतंत्र का भण्डाफोड़ करके एक नये समाज के लिए लड़े जिसमें श्रम के शोषण के लिए कोई जगह न हो। भ्रष्टाचार के मामलों का भण्डाफोड़ और हर स्तर पर इसके विरुद्ध लड़ाई पूँजीवादी-व्यवस्था के जनविरोधी चरित्र का पर्दाफ़ाश करने के संघर्ष का एक हिस्सा ही हो सकता है। हमारा काम इस व्यवस्था के दामन पर लगे दाग़ों को धोना नहीं है, यह न्यायमूर्तियों का काम है। "भ्रष्टाचार-मुक्त शोषण" हमारा लक्ष्य नहीं है, यह पूँजीपतियों की चाहत हो सकती है। हमारा लक्ष्य पूँजीवादी लूट और शोषण का ख़ात्मा है। तभी हर तरह के भ्रष्टाचार का भी ख़ात्मा होगा और ग़ैरबराबरी का भी।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ- 226016 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ- 226016